तत्त्वत्रयम्

(तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या)

स्वामी त्रिभुवन दास

तत्त्वत्रयम्
TATTVATRAYAM

।।श्रीः।।
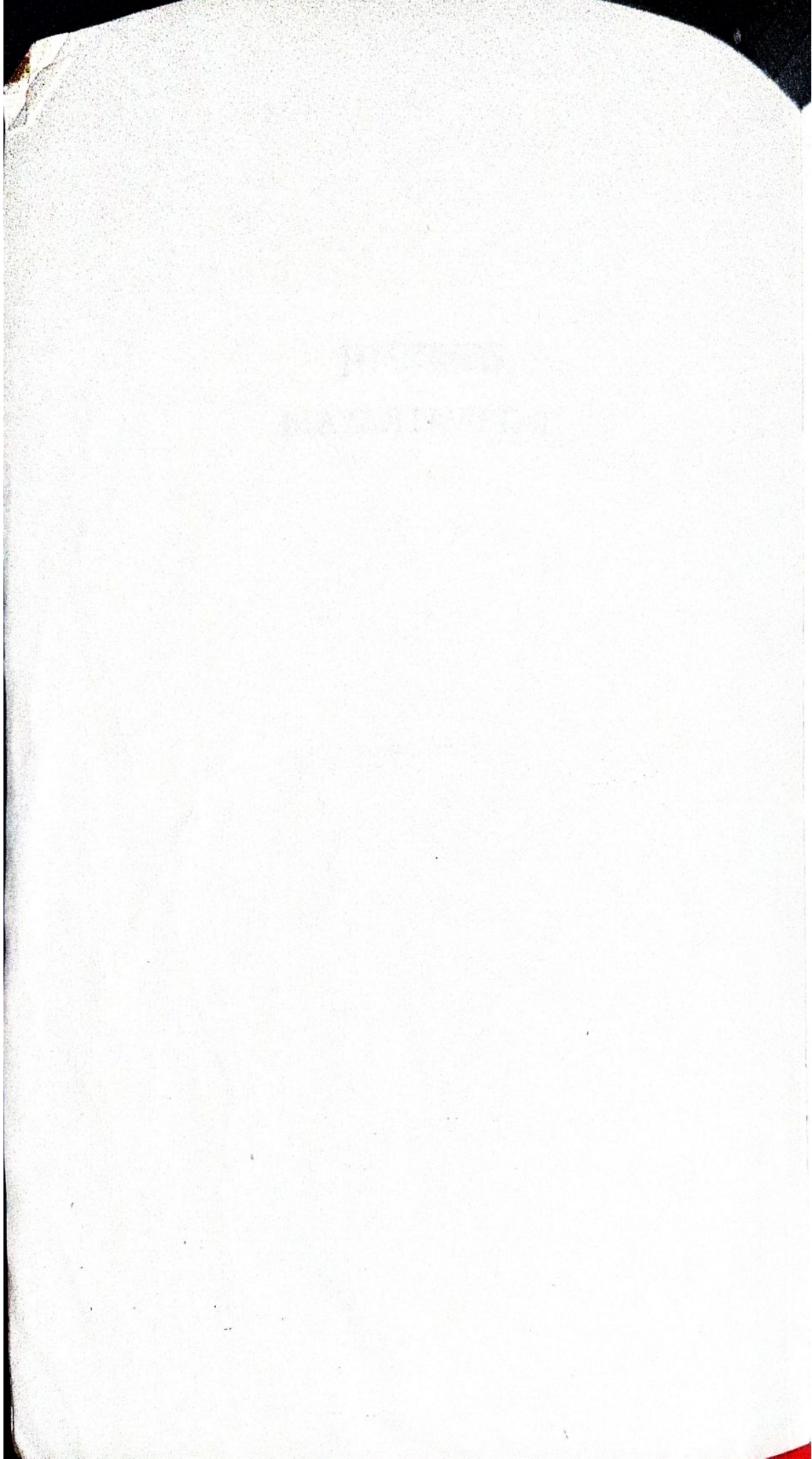
व्रजजीवन प्राच्यभारती ग्रन्थमाला

१८५

तत्त्वत्रयम्

(तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्यासहित)

व्याख्याकार

स्वामी त्रिभुवनदास

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

दिल्ली

तत्त्वत्रयम्

प्रकाशक
चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
38 यू. ए. जवाहर नगर, बंगलो रोड
पो. बा. नं. 2113, दिल्ली - 110007
दूरभाष : (011) 23856391, 41530902

प्रथम संस्करण 2015
पृष्ठ : 36+182
मूल्य : ₹ 150.00

अन्य प्राप्तिस्थान :

चौखम्बा विद्याभवन
चौक (बैंक ऑफ बड़ौदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069
वाराणसी - 221001

❈

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के. 37/117 गोपाल मन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129
वाराणसी - 221001

❈

चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस
4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)
गली नं. 21-ए, अंसारी रोड़
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

ISBN : 978-81-7084-656-5

सम्पादन सहयोग - स्वामी महेशानन्द

मुद्रक :
ए. के. लिथोग्राफर्स, दिल्ली

THE

VRAJAJIVAN PRACHYABHARATI GRANTHAMALA

185

TATTVATRAYAM

with 'Tattvavivechani' Hindi Commentary

by

Swami Tribhuvanadas

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN

DELHI

Tattvatrayam

Publishers :
CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A., Bungalow Road, Jawahar Nagar
Post Box No. 2113
Delhi 110007
Phone : (011) 23856391, 41530902
E-mail : cspdel.sales@gmail.com
Website : www.chaukhambabooks.in

First Edition : 2015
Pages : 36+182
Price : ₹ 150.00

Also can be had from :
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
Chowk (Behind The Bank of Baroda Building)
Post Box No. 1069
Varanasi 221001

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
K. 37/117 Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
Varanasi 221001

CHAUKHAMBA PUBLISHING HOUSE
4697/2, Ground Floor, Street No. 21-A
Ansari Road, Darya Ganj
New Delhi 110002

ISBN : 978-81-7084-656-5

Editorial Assistance - Swami Maheshananda

Printed by :
A. K. Lithographers, Delhi

आत्मनिवेदन

'विशिष्टाद्वैत वेदान्तका विस्तृत विवेचन' ग्रन्थके प्रणयनकाल में कुछ महानुभावों ने आग्रह किया कि वेदान्त सिद्धान्त में प्रवेशार्थ नूतन जिज्ञासुओं के लिए भी कुछ लेखन होना चाहिए। उनके निवेदन को ध्यान में रखकर ईशावास्योपनिषत् और केनोपनिषत् की व्याख्या लिखने के पश्चात् प्रस्तुत तत्त्वत्रयम् ग्रन्थ की व्याख्या की गयी है। मैंने व्याकरण तथा वेदान्तके अप्रतिम विद्वान् पण्डित श्रीरामवदनजी शुक्ल और वीतराग-परमहंस, दार्शनिक सार्वभौम स्वामी शंकारानन्द सरस्वतीजी से विशिष्टाद्वैत वेदान्तका अध्ययन किया था। अनन्तश्रीविभूषित श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ वेदान्तविद्याप्रवीण स्वामी मधुसूदनाचार्य व्याकरणवेदान्ताचार्य (भूतपूर्व वेदान्त विभागाध्यक्ष श्रीरङ्गलक्ष्मी आदर्श संस्कृतमहाविद्यालय, वृन्दावन) ने कृपापूर्वक इस व्याख्या ग्रन्थका अवलोकन करके उपयोगी बनानेके लिए अनेक सत्परामर्श प्रदान किए। पूज्य गुरुदेव अनन्तश्रीविभूषित ब्रह्मविद्वरिष्ठ महान्त श्रीस्वामी नृत्यगोपालदासजी महाराज के अहेतुक अनुग्रक से दास का शास्त्राध्ययन हुआ। पूज्य गुरुदेव और परम सुहृद् अनन्तश्रीविभूषित भक्तिशास्त्रमर्मज्ञ श्रीमद्भागवतप्रवक्ता श्रीमलूकपीठाधीश्वर श्रीराजेन्द्रदासजी महाराज ये दोनों महापुरुष मुझे स्वाध्याय और लेखनकार्य के लिए सदा प्रोत्साहित करते रहते हैं। इन सभी महात्माओं के पावन पादपद्मों में अनन्त प्रणति समर्पित हैं।

हमारे लेखों को सुन्दर अक्षरोंमें लिखकर पाण्डुलिपि बनानेका कार्य श्रीरामशरणदास(श्रीरामानन्दाचार्यपीठ चतरा, वराहक्षेत्र, नेपाल) और राघवदास जी (श्रीराममन्दिर काश्मीरीगंज, वाराणसी) ने किया। श्रीमहेश चन्द्र मासीवाल

(साहित्याचार्य- एम्.एड्., संस्कृत शिक्षक- पी. वाई. डी. एस्. लर्निंग एकेडमी, देहरादून) ने तत्परतासे अक्षरसंयोजन किया है तथा श्रीरुद्रनारायण दास (स्वामी रामानन्द आश्रम, ऋषीकेश) और ब्रह्मचारी श्रीहरि (स्वर्गाश्रम, ऋषीकेश)ने अक्षरशुद्धि निरीक्षण तथा स्वामी महेशानन्द (ज्योतिर्विद् और वेदान्तविद्वान्) स्वर्गाश्रम ने कुशलतासे सम्पादनकार्य सम्पन्न किया है। इन सभीके परिश्रमके परिणामस्वरूप प्रस्तुत ग्रन्थ वेदान्तप्रेमी पाठकों के हाथों में प्रस्तुत है।

महाशिवरात्रि

वि.सं.2071

स्वामी त्रिभुवनदास

मङ्गलम् कुटीरम्, गङ्गालाइन,

पो.- स्वर्गाश्रम (ऋषीकेश),

उत्तराखण्ड, पिन-249304,

चलवाणी- 8057825137 (8 से 10 p.m)

शुभ-आशीर्वाद

साधक जगत् मे तत्त्वत्रय को बड़ी मान्यता प्राप्त है। सभी मुमुक्षुओं को अर्थ पञ्चक एवं तत्त्वत्रय का ज्ञान आवश्यक है। संसार में हम आये हैं, हम कौन हैं ? इसका तथा भगवान् के स्वरूप एवं साधना के रहस्यों का परिज्ञान आवश्यक होता है। श्रीत्रिभुवन दासजी ने बड़े विशदरूप में तत्त्वत्रय की व्याख्या को लिखा है। इसके माध्यम से जिज्ञासुओं की जिज्ञासा शान्त होगी एवं अध्यात्म लाभ भी होगा। इस सत्प्रयास की सराहना की जाती है।

महान्त

नृत्यगोपाल दास

श्रीमणिराम दास

छावनी सेवा ट्रस्ट

अयोध्या

शुभ-सम्मति

श्रीमते रामानन्दाचार्याय नमः

चेतनाचेतनविशिष्ट ब्रह्म श्री सीताराम जी की कृपा से विद्वद्वरेण्य स्वाध्यायप्रवचनपरायण स्वामी श्रीत्रिभुवनदास जी के द्वारा कृत अत्यन्त उपादेय और साधकजगत् में समादृत विशिष्टाद्वैतवेदान्त का विस्तृत विवेचन, ईशावास्योपनिषत् एवं केनोपनिषत् की व्याख्या के पश्चात् "तत्त्वत्रय" की व्याख्या प्रकाशित होने जा रही है, यह अत्यन्त हर्ष का विषय है।

चेतन जीव, अचेतन प्रकृति एवं इन दोनों के नियामक ब्रह्मतत्त्व का बोध जिज्ञासु को अत्यन्तापेक्षित है, इसके विना जीव का परम कल्याण सम्भव नहीं। विशिष्टाद्वैत दर्शन में जीव एवं प्रकृति भगवान् के शरीर हैं, भगवान् शरीरी हैं। भगवत्- शरीरभूत जीव एवं प्रकृति दोनों ही नित्य हैं, सत्य हैं। जैसे शरीरगतदोष आत्मा में व्याप्त नहीं होते उसी प्रकार जीवगत एवं प्रकृतिगत दोष सच्चिदानन्दघन परमात्मा में व्याप्त नहीं होते। यह दर्शन साङ्ग-वेदेतिहासपुराणस्मृतिसम्मत, पूर्ण व्यावहारिक और अनुभवगम्य है। इसकी व्याख्या समर्थ विद्वान् महापुरुष के द्वारा होना हम सब का सौभाग्य है। भगवान् के श्रीचरणों में यह प्रार्थना है कि वे व्याख्याकार को परा, प्रेमलक्षणा भक्तिपूर्वक नैरुज्य एवं दीर्घायुष्य प्रदान करें।

भवदीय

राजेन्द्र दास

मलूक पीठ, वंशीवट, वृन्दावन

सम्पादकीय

तत्त्वत्रयम् की तत्त्वविवेचनी व्याख्या पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए प्रसन्नता हो रही है। इसमें मूल ग्रन्थ के साथ ही उसका सरल सुबोध अर्थ तथा गम्भीर, विस्तृत और हृदयग्राही व्याख्या सुसज्जित है। ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषयों का बोध कराने के लिए इसे समुचित शीर्षकों से अलंकृत किया गया है। इसके अध्ययनसे वेदान्तसिद्धान्त सहज ही हृदयंगम होता चला जाता है। अध्येता महानुभाव इसका स्वयं अनुभव करेंगे। ग्रन्थ के अन्त में आवश्यक परिशिष्ट सन्निविष्ट हैं, जिससे यह ग्रन्थ शोधकर्ताओं केलिए भी संग्राह्य है। हमारा विश्वास है कि प्रस्तुत व्याख्या के सहित तत्त्वत्रय के अध्ययन से जिज्ञासुओं का विशिष्टाद्वैत वेदान्त सिद्धान्त में सफल प्रवेश होगा।

स्वामी महेशानन्द

'मातोश्री', ग्राम- जौंक,

पो.- स्वर्गाश्रम (ऋषीकेश)

उत्तराखण्ड, पिन- 249304

प्रस्तावना

तत्त्व शब्द दो प्रकार का होता है, एक तत्त्व[1] पद यौगिक है। यह धर्म का वाचक है। तत् शब्द के अर्थ अनेक होने से उनमें विद्यमान धर्मरूप तत्त्व भी अनेक होते हैं। दूसरा तत्त्व पद संज्ञा (रूढ) है। यह पदार्थ का बोधक है, धर्म का बोधक नहीं है। इसका ही विचार यहाँ प्रस्तुत है। अनारोपित वस्तु को तत्त्व कहते हैं, वह सत्य होता है- **तत्त्वं नाम अनारोपितं वस्तु परमार्थ इति यावत्** (दर्शनोदय)। आरोपित (कल्पित) न होने से ब्रह्म के समान चित् (चेतन जीवात्मा) और अचित् (अचेतन प्रकृति) भी तत्त्व होते हैं। शांकर वेदान्त के अनुसार एक ब्रह्म ही परमार्थ तत्त्व है, अन्य सभी मिथ्या हैं। जैसे कोई अधिष्ठान रज्जु(रस्सी) को अज्ञान से सर्प समझता है, वहाँ रज्जु ही सत्य होती है, सर्प सत्य नहीं होता, वह मिथ्या है। वैसे ही अज्ञानी व्यक्ति अधिष्ठान ब्रह्म को अज्ञान से चेतन जीव और अचेतन पदार्थ समझता है, वहाँ ब्रह्म ही सत्य है, अन्य पदार्थ सत्य नहीं है, वे मिथ्या हैं। इस प्रकार जगत् को रज्जुसर्प के समान मिथ्या मानने वाला शांकर मत उचित नहीं है क्योंकि भ्रमस्थल में तीन सत्य वस्तुएं होती हैं। जिसमें सर्प का भ्रम होता है, वह रज्जु सत्य होती है, उसमें जिस सर्प का भ्रम होता है, वह सर्प भी अन्यत्र सत्य होता है। यदि कहीं भी सत्य सर्प नहीं होगा तो रज्जु में सर्प का भ्रम नहीं होगा। भ्रम की सिद्धि के लिए कहीं न कहीं सत्य सर्प मानना ही होगा, जिस मनुष्य को भ्रम होता है, वह भी अधिष्ठान रज्जु से भिन्न होता है और सत्य होता है। इस प्रकार रज्जुसर्प भ्रमस्थल में तीन सत्य पदार्थ अङ्गीकृत होते हैं। इसी प्रकार ब्रह्म में जिस जगत् का भ्रम होता है, उसे कहीं न कहीं सत्य स्वीकार करना होगा। यदि कहीं भी सत्य जगत् स्वीकार नहीं करेंगे तो ब्रह्म में उसका भ्रम नहीं होगा और भ्रम न होने से वह मिथ्या भी नहीं होगा। यदि कहीं उसे सत्य स्वीकार करते हैं तो "**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या**" यह सिद्धान्त खण्डित हो जाएगा। जैसे रज्जु में सर्प के भ्रम वाला मनुष्य

टिप्पणी - 1. तस्य भावः तत्त्वम्, तत् शब्दात् तस्य भावस्त्वतलौ (अ.सू.5.1.119) इति सूत्रेण भावे त्व प्रत्ययः।

रज्जु से भिन्न होता है, वैसे ही ब्रह्म में जगत् की भ्रान्ति वाला मनुष्य ब्रह्म से भिन्न होगा और जैसे भ्रान्त मनुष्य को रज्जु का ज्ञान होने पर भ्रम के निवृत्त होने पर भी वह रज्जु से भिन्न ही रहता है वैसे ही भ्रान्त मनुष्य को ब्रह्म का ज्ञान होने पर जगत् भ्रम के निवृत्त होने पर भी वह मनुष्य ब्रह्म से भिन्न रहेगा और ऐसा होने पर जीव और ब्रह्म की एकता भी सिद्ध नहीं होगी। इस प्रकार जगत् को मिथ्या मानने पर अनेक दोष प्राप्त होते हैं इसलिए उसे सत्य ही माना जाता है।

विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन में चित्, अचित् और ईश्वर (ब्रह्म) इन तीन तत्त्वों को स्वीकार किया जाता है। इन तीनों के स्वरूप और स्वभाव भिन्न होने पर भी चित् और अचित् ब्रह्म के विशेषण हैं, इन दोनों से विशिष्ट ब्रह्म एक अद्वैत तत्त्व है। जैसे दण्ड और कुण्डल किसी मनुष्य के विशेषण होते हैं, वैसे चेतन और अचेतन ब्रह्म के विशेषण नहीं हैं क्योंकि दण्ड और कुण्डल कभी अपने आश्रय से पृथक् भी स्थित होते हैं किन्तु चेतन और अचेतन कभी भी अपने आश्रय से पृथक् स्थित नहीं होते। दण्ड और कुण्डल मनुष्य के पृथक्सिद्ध विशेषण होते हैं किन्तु चेतन और अचेतन ब्रह्म के अपृथक्सिद्ध विशेषण होते हैं।

कुछ लोग देह को ही आत्मा समझते हैं, देह से भिन्न आत्मा नहीं समझते। अचित् देह से चेतन आत्मा का भेद समझने के लिए चेतन और अचेतन तत्त्व का ज्ञान उपयोगी है। देह से भिन्न चेतन आत्मा को जानने वालों में भी कुछ उसे स्वतन्त्र समझते हैं, ब्रह्मात्मक[1] नहीं समझते। अपने आत्मस्वरूप को ब्रह्मात्मक समझने के लिए चेतन जीवात्मा और परमात्म तत्त्व का ज्ञान उपयोगी है। इस प्रकार चेतन, अचेतन और ईश्वर तत्त्व के ज्ञान से देहात्मभ्रम और स्वतन्त्रात्म भ्रम निवृत्त होते हैं अतः भोक्ता जीवात्मा, भोग्य अचेतन और प्रेरक ईश्वर को जानकर - **भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा** (श्वे.उ.1.12) इत्यादि श्रुतियों के अनुसार तीन तत्त्व माने जाते हैं। चित् और अचित् इन दो विशेषणों से विशिष्ट एक ब्रह्म होने

टिप्पणी - 1. ब्रह्म आत्मा नियन्ता यस्य स ब्रह्मात्मकः।

से एक तत्त्व माना जाता है। इन दोनों पक्षों में कोई विरोध नहीं है क्योंकि उक्त तीनों के स्वरूप में भेद तथा विशिष्ट ब्रह्म की एकता स्वीकृत है।

अचेतन प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा ये तीनों तत्त्व सत्य ही हैं, मिथ्या नहीं। ब्रह्म का नाम सत्य का सत्य है। जीवात्मा सत्य है, उससे भी बढ़कर परमात्मा सत्य है- **अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यं प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्** (बृ.उ.2.3.6)। जड़ प्रकृति के स्वरूप में विकार होता है, चेतन जीव के स्वरूप में विकार नहीं होता, इस लिए अचेतन की अपेक्षा जीव को सत्य (निर्विकार) कहा जाता है, बद्धावस्था में जीव के ज्ञान गुण में विकार होता है, परमात्मा के गुण में विकार नहीं होता इसलिए जीव से बढ़कर ब्रह्म सत्य कहा जाता है। **सत्यस्य सत्यम्** इस प्रकार उक्त श्रुति ही सत्य पदार्थों के तारतम्य को कहती है। इस रहस्य को न समझने के कारण ही **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'** यह भ्रान्त धारणा प्रचलित हुई।

श्रीलोकाचार्य स्वामी जी द्वारा तमिलभाषा में लिखित तथा विद्वानों के द्वारा संस्कृत में अनूदित तत्त्वत्रयम् ग्रन्थ विशिष्टाद्वैत वेदान्त को समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। हमारे आराध्य परात्पर प्रभु सर्वेश्वर श्रीसीतारामजी के असीम अनुग्रह से इसकी तत्त्वविवेचनी व्याख्या का प्रणयन हुआ है। इस से पूर्व में प्रकाशित मेरी प्रौढ मौलिक कृति 'विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन' ग्रन्थ को समझने में भी यह व्याख्या द्वार का कार्य करेगी। श्रीमद्वेदमार्गप्रतिष्ठापनाचार्योभयवेदान्तप्रवर्तकाचार्य श्रीस्वामी मधुसूदनाचार्य (श्री लक्ष्मीवेंकटेश मन्दिर श्रीवैष्णव टोला, पो. त्रिवेणी, जिला - नवलपरासी, लु.अ. नेपाल) द्वारा प्रकाशित, श्रीवरवरमुनि स्वामी जी कृत भाष्य सहित 'तत्त्व त्रयम्' और विश्वविद्यालय अध्ययन केन्द्र फैजाबाद द्वारा प्रकाशित, काञ्ची प्रतिवादिभयङ्कर श्रीमदनन्ताचार्य स्वामी जी द्वारा संस्कृत में अनूदित, आचार्य श्री शिवप्रसाद द्विवेदी जी कृत हिन्दी व्याख्या सहित तत्त्वत्रयम् ये दो संस्करण मेरे पास थे। भिन्न -भिन्न अनुवादकों से अनूदित होने के कारण इनमें पाठभेद होना स्वाभाविक है। मैंने सुबोधता की दृष्टि से प्रायः काञ्ची स्वामी जी के पाठ का और क्वचित् दूसरे पाठ का भी अनुसरण किया है और इस व्याख्या के लेखन में वरवरमुनि स्वामी

जी के भाष्य का आश्रय लिया है। यह व्याख्या मूल ग्रन्थ को लगाने में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी, ऐसी आशा है।

स्वामी त्रिभुवनदास
मङ्गलम् कुटीरम्, गंगालाइन,
पो.- स्वर्गाश्रम (ऋषीकेश),
उत्तराखण्ड, पिन- 249304

प्राक्कथन

लोकाचार्यायगुरवे कृष्णपादस्य सूनवे।
संसारभोगिसन्दंष्ट[1]जीवजीवातवे नमः॥

अनादि माया से मोहित होने के कारण ईश्वर–विमुख होकर कर्मानुसार कीटपतङ्गादि नाना योनियों में भटकते हुए गर्भ, जन्म, जरामरणादि अनेक दुःखों को भोगने वाले, जीवात्मा के ऊपर कदाचित् अकारणकरुण उन प्रभु की कृपादृष्टि पड़ने पर इसे देवदुर्लभ मनुष्य जीवन मिलता है। शास्त्र कहता है- **''कीटेषु कोटिशतजन्मसु मानुषत्वम्''**। ऐसा दुर्लभ मानव जन्म प्राप्त करके भी आहार, निद्रा आदि मौज–मस्ती में ही अपनी सारी आयु बीत जाये तो अन्त में पछताने के सिवाय और कुछ नहीं मिलेगा। जैसा किसी ने कहा है–

अह ह! जन्म गतञ्च निरर्थकं न यजनं भजनञ्च कृतं हरेः।
न गुरुपादसरोरुहचिन्तनं, प्रतिदिनं जठरस्य पिपोषणम्॥

इस प्रकार पीछे पछताने से क्या होगा ? इसलिए आरम्भ से ही इस अमूल्य जीवन के कुछ क्षण सत्सङ्गादि सत्कर्मों में लगाना चाहिए। सत्सङ्ग में श्रीहरि की दिव्य लीला कथाओं का श्रवण, मनन तथा नामसंकीर्तन सुलभ होगा। इनका सेवन करते रहने से क्रमशः श्रीहरि में रति और अन्य विषयों से विरति (वैराग्य) जाग्रत होगी तथा इसके परिपक्व होने पर इस दुःखमय संसार से छूटने की इच्छा होगी। ऐसी इच्छा वाले व्यक्ति को मुमुक्षु कहते हैं।

मोक्ष की इच्छा होने पर उसके साधन को जानने के लिए सद्गुरु की शरण में जाना चाहिए- **तद्विज्ञानार्थं सः गुरुमेवाभि गच्छेत्**। वेदवेदान्त शास्त्र का विधिवत् अध्ययनपूर्वक ब्रह्मनिष्ठ (ब्रह्मदर्शी) गुरु का ही आश्रय लेना चाहिए, जिन्हें 'श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' कहा गया। इस 'मुण्डक' श्रुति का उपबृंहण करते हुए भागवत में कहा गया - **शाब्दे परे च**

....

टिप्पणी - 1. संसाररूपसर्पसंदष्ट......।

निष्णातं ब्रह्मण्युपसमाश्रयम्। (भा.11.3.21)

निजी ख्याति, लाभ और पूजादि की अपेक्षा विना ज्ञान तथा तदनुरूप अनुष्ठान (आचरण) सम्पन्न मानवमात्र का कल्याण चाहने वाले, दयालु सदगुरु का उपदेश सुगमता से ज्ञातव्य साधन-साध्य आदि वस्तु का यथार्थ बोध जिज्ञासु को करा सकता है।

उपर्युक्त लक्षणों से युक्त एक सद्गुरु के विषय में यहाँ दो शब्द कहने जा रहे हैं- जो अपने सद्गुणों से लोकाचार्य नाम से प्रसिद्ध हो चुके हैं। श्रीलोकाचार्यजी ने श्रुति, स्मृति तथा इतिहास और पुराणों में विस्तार से वर्णित चित्, अचित् और ईश्वर का स्वरूप और तीनों के विशेष स्वभाव का जिस ग्रन्थ के माध्यम से सरलता से बोध कराने के लिए सत्प्रयास किया, वह अन्वर्थनाम वाला तत्त्वत्रय ग्रन्थ है। इस में नाम के अनुसार तीन प्रकरण हैं जिस का प्रारम्भ इस प्रकार है- **मुमुक्षोश्चेतनस्य मोक्षोत्पत्तौ तत्त्वत्रयज्ञानमपेक्षितम्, तत्वत्रयं चिदचिदीश्वरश्च।** संसार से निवृत्ति की इच्छा वाले को मुमुक्षु और ज्ञान वाले को चेतन कहते हैं। सामान्य ज्ञान वाले पशु-पक्षी आदि भी हैं, परन्तु उनमें मोक्षेच्छा दुर्लभ है इसलिए मानव को लक्ष्य करके मुमुक्षु कहा गया तथापि मानव में भी संसार से निवृत्ति की इच्छा दुर्लभ ही है क्योंकि इस इच्छा के न होने से ही अनादि काल से जन्म-मरण रूपी संसार में वह भटकता आ रहा है। इसी अभिप्राय से ग्रन्थकार ने **'मुमुक्षोश्चेतनस्य'** ऐसा कहा है। लोक में दो श्रेणी के मानव होते हैं- बुभुक्षु और मुमुक्षु। केवल भोग-विलास की इच्छा वाले को बुभुक्षु कहते हैं। प्रायः लोगों में भोगों की ही बलवती इच्छा देखी जाती है। इस आलेख के आरम्भ में बताया गया कारण उपस्थित होने पर ही संसार से निवृत्ति की इच्छा हो सकती है अन्यथा नहीं।

यहाँ मोक्षप्राप्ति में जिन तीन तत्त्वों का ज्ञान अपेक्षित बतलाया गया, उनमें प्रथम चित् प्रकरण से 'चित्' शब्द वाच्य जीवात्मा के स्वरूप-स्वभाव और परस्पर भेदों का साङ्गोपाङ्ग निरूपण किया गया है। द्वितीय अचित प्रकरण में अचित् के तीन भेद वर्णित हैं- शुद्ध सत्त्व, मिश्रसत्त्व और सत्त्वादिशून्य। इन में क्रमशः भगवद्धाम, चौबीस तत्त्वों वाली प्रकृति और काल तत्त्व का विस्तार से निरूपण किया गया है। अन्तिम ईश्वर प्रकरण में उनका स्वरूप, स्वभाव, विविध अवतारों और उनका प्रयोजन बताकर

ग्रन्थ पूर्ण हुआ है। इसका विस्तृत ज्ञान तो मूल का अनुवाद और उसकी विस्तृत व्याख्या से ही हो सकेगा।

श्रीलोकाचार्य स्वामी जी का मूलग्रन्थ तथा श्रीवरवर मुनि का मूल के आशय को पूर्णतः प्रकाशित करने वाला अनेक प्रमाणवचनों के सहित सरल और सरस भाष्य तमिल भाषा में लिखा गया है। श्रीवृन्दावनस्थ श्रीरङ्गमन्दिर के संस्थापक प्रातःस्मरणीय स्वनामधन्य अनन्त श्रीविभूषित श्रीरङ्गदेशिकस्वामी जी महाराज ने श्रीलोकाचार्य स्वामी जी के अन्य सभी ग्रन्थों के साथ इस तत्त्वत्रय ग्रन्थ का भी भाष्य सहित संस्कृत में अनुवाद करके हम सभी का महान उपकार किया है। श्रीवरवरमुनि का भाष्यसहित यह तत्त्वत्रय ग्रन्थ वि.सं. 1995 में चौखम्बा बनारस से प्रकाशित हमें पढ़ने को मिला था। उसके अप्राप्य होने पर पूर्वी नेपाल के त्रिवेणी धाम से पुनः प्रकाशित हुआ, वह भी अब अप्राप्य ही है। अतः इसके पुनः प्रकाशन की आवश्यकता है। केवल मूल और उसका हिन्दी-नेपाली अनुवाद वाला तत्वत्रय यत्र तत्र उपलब्ध है परन्तु भाष्य सहित नहीं। श्रीवरवर मुनि के भाष्य सहित यह ग्रन्थ श्रीसम्पूर्णानन्द सं. वि. विद्यालय की शास्त्री परीक्षा में भी वैकल्पिक रूप से निर्धारित है। सौभाग्य की बात है कि स्वामी श्रीत्रिभुवन दासजी महाराज ने इस ग्रन्थ का स्वाध्याय करके श्रीवरवर मुनि के भाष्य के आधार से मूल संस्कृत का लोकभाषा हिन्दी में विस्तार से विवेचन किया है। इस कार्य में इन्होंने अन्य अनेक ग्रन्थों का भी सहयोग लिया है, जो इसके पढ़ने से ज्ञात होता है। श्रीरङ्गमन्दिर वृन्दावन के वार्षिक ब्रह्मोत्सव के पावन अवसर में हमें भी इसे पढ़ने का अवसर मिला। इसका यथां शीघ्र प्रकाशन हो जाय तो संस्कृतज्ञ तथा संस्कृत भाषा के अनभिज्ञ सज्जनों और उक्त परीक्षार्थी छात्रों का महान उपकार होगा, ऐसा अपना विश्वास है।

स्वामी मधुसूदनाचार्य वेदान्ती

वर्तमान
अध्यक्ष
श्रीलक्ष्मीनारायणमन्दिर
तुलसीपुर - 6, रजौरा,
जिला- दाङ्ग , नेपाल

भूतपूर्व वेदान्तविभागाध्यक्ष
श्रीरंगलक्ष्मी आदर्शसंस्कृत
महाविद्यालय, वृन्दावन

विषयानुक्रमणिका

तत्त्वत्रयम्

2. अचित्प्रकरणम् 63

3. ईश्वर प्रकरण 99

तत्त्वत्रयम्

मूलपाठः

1. चित्प्रकरणम्

1.मुमुक्षोः चेतनस्य मोक्षसिद्धये तत्त्वत्रयज्ञानमपेक्षितम्। तत्त्वत्रयं चिदचिदीश्वरश्च।

2.चिद् इति आत्मोच्यते, आत्मस्वरूपं 'गत्वा गत्वोत्तरोत्तरम्' इत्युक्तप्रकारेण देहेन्द्रियमनःप्राणबुद्धिभ्यो विलक्षणम्, अजडम्, आनन्दरूपम्, नित्यम्, अणु अव्यक्तम्, अचिन्त्यम्, निरवयवम्, निर्विकारम्, ज्ञानाश्रयभूतम्, ईश्वरस्य नियाम्यम्, धार्यम्, शेषभूतञ्च।

3.आत्मस्वरूपस्य देहादिविलक्षणत्वं कथमिति चेद् इत्थं देहादीनां 'मम देहादयः' इत्यात्मनो भिन्नतया भानात्, इदन्त्वेन भानात्, आत्मनश्च अहन्त्वेन भासमानत्वात्, एतेषां कदाचिद् भासमानत्वात् कदाचिदभानाच्च, आत्मनस्सदा भासमानत्वाच्च, एतेषां बहुत्वात् आत्मन एकत्वाच्च एतेभ्यो विलक्षण आत्मेत्यङ्गीकर्तव्यम्।

4.अजडत्वं नाम ज्ञानमन्तराऽपि स्वतो भासमानत्वम्।

5.आनन्दरूपत्वञ्च सुखरूपत्वम्। सुप्तोत्थितस्य सुखमहमस्वाप्सम् इति परामर्शदर्शनात् सुखरूप आत्मा भवति।

6.नित्यत्वं नाम सदावर्तमानत्वम्, सदा वर्तते चेज्जन्ममरणे कथं भवतः? इति चेद् देहसम्बन्धो जन्म, देहवियोगो मरणम्।

7.अणुत्वं कथमिति चेत्? हृदयप्रदेशाद् उत्क्रामति गच्छत्यागच्छति चेति शास्त्रे प्रतिपादनाद् अणुः आत्मा भवति।

8.ननु अणुः हृदयदेशे तिष्ठति तर्हि सर्वत्र शरीरे सुखदुःखे कथमनुभवति? इति चेन्न मणिद्युमणिदीपादीनां क्वचिदवस्थानेऽपि प्रभायाः सर्वत्रैकरूपेण व्याप्तिवद् ज्ञानस्य सर्वत्रैकरूपेण व्याप्त्या तदनुभवो न विरुध्यते।

9.एकस्यैककालेऽनेकदेहपरिग्रहोऽपि ज्ञानव्याप्त्या।

10.अव्यक्तत्वं नाम घटपटादिग्राहकैः चक्षुरादिभिः अव्यङ्ग्यत्वम्।

11.अचिन्त्यत्वं नाम अचित्सजातीयतया चिन्तनानर्हत्वम्।

12.निरवयवत्वं नाम अवयवसमुदायानात्मकत्वम्।

13.निर्विकारत्वं नाम अचिद्वद्विकाररहिततया सदैकरूपत्वम्।

14.एवंरूपतया शस्त्राग्निजलवातातपादिभिः छेदनदहनक्लेदनशोषणादि-करणाऽयोग्यत्वम्।

15.आर्हता आत्मा देहपरिमाण इत्याहुः। तच्छ्रुतिविरुद्धम्। अनेकदेहपरिग्रहं कुर्वतां योगिनां स्वरूपस्य शैथिल्यञ्च प्रसज्येत।

16.ज्ञानाश्रयत्वं नाम ज्ञानाधारत्वम्। आत्मा ज्ञानाधारो यदि न स्यात्, ज्ञानमात्रं स्यात्, तदाऽहं ज्ञानमित्येव प्रतिसन्दधीत न त्वहं जानामीति।

17.ज्ञातेत्युक्त्यैव कर्ता भोक्ता चेत्युक्तो भवति। कर्तृत्वभोक्तृत्वयोर्ज्ञाना-वस्थाविशेषत्वात्।

18.केचित्तु गुणानामेव कर्तृत्वं नात्मनः इत्याहुः तन्न, तदास्य शास्त्रवश्यत्वं भोक्तृत्वं च न स्यात्।

19.सासांरिकप्रवृत्तिषु कर्तृत्वं न स्वरूपप्रयुक्तम् अपितु गुणसंसर्गकृतम्। कर्तृत्वं चेश्वराधीनम्।

20.ज्ञानाश्रयत्वे शास्त्रेषु ज्ञानमिति निर्देशोऽस्य कुतः? इति चेत् ज्ञाननैरपेक्ष्यणापि स्वयमवभासत इति ज्ञानं सारभूतगुणतया निरूपकधर्मो भवतीति च तथा निर्देशः।

21.नियाम्यत्वं नाम ईश्वरबुद्ध्यधीनसर्वव्यापारवत्त्वम्।

22.धार्यत्वं नाम तत्स्वरूपसंकल्पव्यतिरेकप्रयुक्तस्वसत्ताव्यतिरेकयोग्यत्वम्।

23.शेषत्वं नाम चन्दनकुसुमताम्बूलादिवत्तस्य यथेष्टविनियोगार्हत्वम्। इदं चात्मवस्तु गृहक्षेत्रपुत्रकलत्रादिवत् पृथकस्थित्यादीनां योग्यं न भवति किन्तु शरीरवत्तदयोग्यं भवति।

24.आत्मस्वरूपं च बद्धमुक्तनित्यभेदेन त्रिविधम्। संसारिणो बद्धा इत्युच्यन्ते। उच्छिन्नसंसारबन्धा मुक्ता इत्युच्यन्ते। कदाप्यनाघ्रातसंसारा शेषशेषाशनादयो नित्या इत्युच्यन्ते ।

25.जलस्याग्निसंसृष्टस्थालीसंसर्गेण यथौष्ण्यशब्दादयो जायन्ते। तथाऽऽत्मनोऽचित्सम्बन्धेनाऽविद्याकर्मवासनारुचयो जायन्ते। अचिन्निवृत्तौ अविद्यादयो निवर्तन्त इति वदन्ति।

26.त्रिविधं चैतदात्मस्वरूपं पृथक् पृथगनन्तम्।

27.एक एवात्मा न बहव इति केचित्। तथा सति कस्मिंश्चित् सुखमनुभवति तदानीमेवान्यस्य दुःखानुभवो नोपपद्येत देहभेदादिति चेत् सौभरिशरीरेऽप्येवं स्यात्। कस्यचित् संसरणं कस्यचिद् मुक्तिः कस्यचिच्छिष्यत्वं कस्यचिदाचार्यत्वं च न संघटेत। विषमसृष्टिरपि नोपपद्येत। आत्मभेदप्रतिपादकश्रुतिविरोधश्च।

28.श्रुतिरौपाधिकं भेदं प्रतिपादयतीति चेन्न, मोक्षदशायाम् अपि भेदसद्भावात्। तदा देवमनुष्यादिभेदानां कामक्रोधादि भेदानां च नाशे सति आत्मस्वरूपाणाम् अत्यन्तसमतया केनापि प्रकारेण भेदप्रतिपादनाऽसम्भवेऽपि परिमाणेन प्रकारेणाकारेण च समानानां स्वर्णकुम्भानां रत्नानां व्रीह्यादीनां च परस्परभेदवत् स्वरूपभेदोऽपि सिद्धः तस्मादात्मभेदोऽङ्गीकार्यः।

29.शेषत्वे सति ज्ञातृत्वम् आत्मनां लक्षणम्।

30.एतेषां ज्ञानमपि स्वरूपवन्नित्यं द्रव्यरूपम् अजडम् आनन्दरूपञ्च तर्हि स्वरूपस्य ज्ञानस्य च को भेद इति चेत् स्वरूपं धर्मि, संकोचविकासायोग्यं, स्वेतराप्रकाशकम्, स्वस्मै स्वयं प्रकाशमानम्, अणुपरिमाणं च भवति, ज्ञानं तु धर्मभूतं संकोचविकासयोग्यम्, स्वेतरवस्तुप्रकाशकम्, स्वस्मै स्वयमप्रकाशमानम् आत्मने प्रकाशमानम्, विभु च भवति।

31.तत्र केषांचिज्ज्ञानं सर्वदा विभु, केषांचिच्च सर्वदाऽविभु, केषांचित् तु कदाचित् विभु कदाचिदविभु च।

32.ज्ञानस्य नित्यत्वे ज्ञानं मे जातम्, नष्टम् इति व्यवहारः कथम्? इति चेत् इन्द्रियद्वारा बहिर्निसृत्य विषयान् गृह्णाति निवर्तते च अतः तथा व्यवह्रियते। इदमेकमपि नानात्वेन भासते प्रसरणभेदेन।

33.ज्ञानस्य द्रव्यत्वं कथम्? इति चेत् क्रियागुणयोराश्रयत्वाद् अजडत्वाच्च। अजडत्वे सुषुप्तिमूर्च्छादिषु कुतो न प्रकाशते? इति चेत् प्रसरणाभावान्न प्रकाशते।

34.आनन्दरूपत्वञ्च ज्ञानस्य प्रकाशकालेऽनुकूलत्वम्। विषशस्त्रादिप्रदर्शनकाले तद्विषयकज्ञानस्य दुःखरूपत्वे कारणं देहात्मभ्रमादयः। ईश्वरात्मकतया सर्वेषां पदार्थानां आनुकूल्यमेव स्वभावः प्रातिकूल्यं त्वागन्तुकम्। वस्त्वन्तरनिष्ठस्याप्यानुकूल्यस्य स्वाभाविकत्वे कस्यचित् कदाचित् कुत्रचिदनुकूलानां चन्दनकुसुमादीनां देशान्तरे कालान्तरे च तं प्रत्येव तद्देशे तत्काले चान्यं प्रति च प्रतिकूलता न स्यात्।।

अचित्प्रकरणम्

1.अचिद् ज्ञानशून्यं विकारास्पदं च। इदं शुद्धसत्त्वं मिश्रसत्त्वं सत्त्वशून्यं चेति त्रिविधम्।

2.तत्र शुद्धसत्त्वं नाम रजस्तमोऽमिश्रकेवलसत्त्वं नित्यं ज्ञानानन्दजनकं कर्मणा विना केवलभगवदिच्छया विमानगोपुरमण्डपप्रासादादिरूपेणपरिणतं निरवधिकतेजोरूपं नित्यमुक्तैरीश्वरेण च परिच्छेत्तुमशक्यमत्यद्भुतं वस्तु।

3.इदं केचिज्जडमाहुः केचिद् अजडम्। अजडत्वे नित्यानां मुक्तानाम् ईश्वरस्य च ज्ञाननैरपेक्ष्येण स्वयं प्रकाशते। संसारिणां तु न प्रकाशते।

4. आत्मनो ज्ञानाच्चास्य भेदः कुतः? इति चेद् अहमित्यभानात् शरीरादिरूपेण परिणामात्, विषयनिरपेक्षतया स्वत एव भासमानत्वात्, शब्दस्पर्शाद्याश्रयत्वाच्च भिन्नत्वम् अभ्युपेयम्।

5.मिश्रसत्त्वं नाम सत्त्वरजस्तमोरूपगुणत्रययुक्तः, बद्धचेतनानां ज्ञानानन्दयोः तिरोधायकः, विपरीतज्ञानजनकः नित्यः, ईश्वरस्य क्रीडापरिकरभूतः, प्रदेशभेदेन कालभेदेन च सदृशानां, विसदृशानां विकाराणाम् उत्पादकः प्रकृतिरविद्यामायेत्यभिधीयमानः कश्चिद् अचिद्विशेषः।

6.विकाराणां जनकत्वात् प्रकृतिरित्यभिधीयते, ज्ञानविरोधित्वाद् अविद्येति निगद्यते, विचित्रसृष्टिकारकत्वान्मायेत्युच्यते।

7. अयञ्चाचिद्विशेषः पौङ्गैम्बुलनुम्........... इत्युक्तप्रकारेण चतुर्विंशतितत्त्वात्मकः।

8.तेषु प्रथमं तत्त्वं प्रकृतिः। इयं च विभक्ततम इति अविभक्ततम इति अक्षरमिति च कतिपयावस्थावती। गुणवैषम्येन महदादिविकारा अस्या उत्पद्यन्ते।

9.सत्त्वरजस्तमांसि गुणाः, एते च प्रकृतेस्स्वरूपानुबन्धिनः स्वभावाः। प्रकृत्यवस्थायाम् अनुद्भूता विकारदशायाम् उद्भूताश्च भवन्ति।

10. सत्त्वं ज्ञानसुखे तत्सङ्गञ्चोत्पादयति। रजः रागतृष्णासङ्गान् कर्मसङ्गञ्चोत्पादयति। तमस्तु विपरीतज्ञानम् अनवधानमालस्यं निद्राञ्च जनयति।

11.एतेषां साम्यदशायां विकाराः समाः अस्पष्टाश्च भवन्ति। वैषम्यदशायां विकारा विषमाः स्पष्टाश्च भवन्ति।

12.विषमविकारेषु प्रथमो महान्। अयं सात्त्विकराजसतामस भेदेन

त्रिविधः, अध्यवसायजनकश्च। अस्माद् वैकारिकतैजसभूतादिभेदेन त्रिविधोऽहंकार उत्पद्यते। अहंकारोऽभिमानहेतुः। एषु वैकारिकाच्छ्रोत्र-त्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणाख्यानि पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायू-पस्थाख्यानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, मनश्चेत्येकादशेन्द्रियाणि जायन्ते।

13.भूतादेः शब्दतन्मात्रं जायते। तस्मादाकाशः स्पर्शतन्मात्रञ्च जायते। तस्माद् वायुः रूपतन्मात्रञ्च जायते। तस्मात्तेजो रसतन्मात्रञ्च जायते। तस्माद् आपो गन्धतन्मात्रञ्च जायते। ततश्च पृथ्वी जायते।

14.स्पर्शतन्मात्रप्रभृतीनि चत्वारि तन्मात्राण्याकाशादिभू- तचतुष्टयकार्यभूतानि, वाय्वादिभूतचतुष्टकारणभूतानि चेत्याहुः।

15.तन्मात्राणि नाम भूतानां सूक्ष्मावस्था।

16.राजसाहंकारस्त्वन्ययोर्द्वयोरहंकारयोः स्वस्वकार्योत्पादने सहकारी भवति। सात्त्विकाहंकारः क्रमेण शब्दतन्मात्रादीनां सहकारेण श्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियाणि वागादिकर्मेन्द्रियाणि च सृजति। तत्सहकारं विनैव च मनः सृजति। केचित्तु कानिचिद् इन्द्रियाणि भूतकार्याण्याहुः, तत्तु शास्त्रविरुद्धम्, भूतानि केवलमाप्यायकानि।

17.एतेषां संहतिं विना कार्यकरत्वाभावात् मृत्तिकाबालुकाजलानि सम्मेल्य एकद्रव्यतामापाद्य तेन भित्तिनिर्माणवत् एतानीश्वर एकीकृत्य अण्डतामापाद्य तदन्तश्चतुर्मुखं सृजति।

18.अण्डमण्डकारणानि च स्वयमुत्पादयति। अण्डान्तर्गतानि वस्तूनि चेतनान्तर्यामी भूत्वा सृजति। अण्डानि चानेकानि चतुर्दशलोकयुतान्युत्तरोत्तरं दशगुणैस्सप्तभिरा- वरणैरावृतानीश्वरस्य क्रीडाकन्दुकस्थानीयानि जलबुदबुदवत् युगपत् सृष्टानि च भवन्ति।

19.भूतेषु मध्ये आकाशोऽवकाशहेतुः वायुर्वहनादिहेतुः, तेजः पचनादिहेतुः, जलं सेचनपिण्डीकरणादिहेतुः, पृथिवी धारणादिहेतुरित्याहुः। श्रोत्रादिनां पञ्चानां ज्ञानेन्द्रियाणां क्रमेण शब्दादिपञ्चकग्रहणकृत्यम्। वागादिनां पञ्चानां कर्मेन्द्रियाणां विसर्गशिल्पगत्युक्तयः कृत्यानि। मनस्तु सर्वेषामेषां साधारणम्।

20.आकाशादीनां भूतानां क्रमेण शब्दादयो गुणा भवन्ति। गुणविनिमयः पञ्चीकरणेन। आकाशे नैल्यप्रतीतिरपि तेनैव। पूर्वपूर्वतन्मात्रसहाये-नोत्तरोत्तरतन्मात्राणि स्वविशेषान् उत्पादयन्तीति गुणाधिक्यमभवदित्यपि वदन्ति।

21.सत्त्वशून्यं नाम कालः। अयं च प्रकृतिप्राकृतानां परिणामहेतुः, कलाकाष्ठादिरूपेण परिणतः, नित्यः, ईश्वरस्य क्रीडापरिकरः शरीरञ्च।

22.एतदन्यदुभयविधमचित् ईश्वरस्यात्मनश्च भोग्यभोगोपकरणभोगस्थानभूतम्।

23.भोग्यानि विषयाः, भोगोपकरणानि चक्षुरादिकरणानि, भोगस्थानानि चतुर्दशभुवनानि सर्वे च देहाः।

24.एषु प्राथमिकम् अचित्तत्त्वम् अधस्तनेनावधिना युक्तम्, परितस्तनेनोपरितनेन चावधिना विरहितम्। मध्यम् अचित् तत्त्वं परितस्तनेनाधस्तेनावधिना रहितम्। ऊर्ध्वावधिना युक्तं च। कालः सर्वत्रैकरूपो वर्तते।

25.कालः परमपदे नित्यः, अत्रानित्यः इत्यप्याहुः। केचित्तु कालो नास्तीत्याहुः। प्रत्यक्षेणागमेन च तत्सिद्धेः नैवं वक्तुं शक्यते।

26.दिङ्नामकमतिरिक्तं द्रव्यमस्तीति बहवः आहुः। बहुभिर्हेतुभिराकाशादावन्तर्भावसंभवात्तदपि न युज्यते।

27.आवरणाभाव एव आकाश इति केचिदाहुः। भावतया प्रतीयमानत्वान्न तदपि युक्तम्।

28.अन्ये च केचिद् आकाशमेनं नित्यं, निरवयवं, विभुमप्रत्यक्षं चाहुः। भूतादेरुत्पत्त्या अहंकारादिष्वभावात् चक्षुषो विषयत्वाच्च न तच्चतुष्टयं युक्तम्।

29.वायुरप्रत्यक्ष इत्यप्ययुक्तम् त्वगिन्द्रियेण गृह्यमाणत्वात्।

30.तेजो भौमादिभेदेन बहुविधम्। तेष्वादित्यादितेजांसि स्थिराणि, दीपादितेजांस्यस्थिराणि। तेजसो रूपं रक्तम्, उष्णस्पर्शः। जलस्य रूपं शुक्लम्, शीतस्पर्शोमधुरश्च रसः। पृथ्व्या वर्णा रसाश्च बहुविधाः। स्पर्शस्त्वस्याः वायोश्चानुष्णाशीतः। एवमचित् त्रिविधं भवति।

ईश्वर प्रकरण

1.ईश्वरोऽखिलहेयप्रत्यनीकानन्तज्ञानान्दैकस्वरूपज्ञानशक्त्यादिकल्याण- गुणगणविभूषितः, सकलजगत्सृष्टिस्थितिसंहारकर्ता, 'आर्तो जिज्ञासुर- र्थार्थी ज्ञानी' इत्युक्तचतुर्विधपुरुषाणामाश्रयणीयः, धर्मार्थकाम- मोक्षरूपचतुर्विध फलप्रदः, विलक्षणविग्रहयुक्तः, लक्ष्मीभूमिनीला- नायकश्च।

2.अखिलहेयप्रत्यनीकत्वं नाम तमसस्तेजोवत् सर्पस्य गरुडवद् विकारादिदोषाणां प्रतिभटत्वम्।

3.अनन्तत्वं नाम नित्यत्वे सति चेतनाचेतनव्यापकत्वे सत्यन्तर्यामित्वम्।

4.अन्तर्यामित्वे सति किं दोषाः न प्रसज्येरन्? इति चेत् यथा शरीरगता बाल्यादिदोषा जीवात्मनि न प्रसज्यन्ते तथा त्रिविधचेतनाचेतनदोषा ईश्वरे न प्रसज्यन्ते।

5.ज्ञानानन्दैकस्वरूपत्वं नाम आनन्दरूपज्ञानात्मकत्वम्। तच्च कार्त्स्न्येनानुकूलत्वे सति स्वयंप्रकाशत्वम्।

6. अस्य ज्ञान शक्त्यादि कल्याणगुणः नित्यानवधिकाः असंख्या निरुपाधि का निर्दोषास्समानाधिकरहिताश्च।

7.एषु वात्सल्यादीनां विषया अनुकूलाः, शौर्यादीनां विषयाः प्रतिकूलाः। एतत्कारणभूतज्ञानशक्त्यादीनां तु सर्वे विषयभूताः।

8.ज्ञानम् अज्ञानाम् उपयुक्तम्, शक्तिः अशक्तानाम्, क्षमा सापराधानाम्, कृपा दुःखिनाम्, वात्सल्यं सदोषाणाम्, शीलं मन्दानाम्, आर्जवं कुटिलानाम्, सौहार्द दुष्टानाम्, मार्दवं विश्लेषभीरूणाम्, सौलभ्यं दर्शनोत्सुकानाम्। एवमन्यान्यगुणोपयोगस्थलानि द्रष्टव्यानि।

9.इत्थम् ईश्वरः कल्याणगुणविशिष्टतया अन्येषां दुःखदर्शने सति हा! कष्टमित्यनुकोशन् सर्वदाप्येकरूपेण तेषां शुभं चिन्तयन् केवलं स्वार्थस्स्वपरोभयार्थश्च न भवन् चन्द्रिकामारुतचन्दनजलवत् केवल परार्थस्सन् स्वाश्रितानां जन्मज्ञानवृत्तनिबन्धापकर्षम् अपश्यन् तेषां सर्वथाप्यशरण्यदशायां स्वयं शरण्यो भवन् सान्दीपनिपुत्रस्य वैदिकपुत्राणां च प्रत्यानयनवद् अशक्यानि कार्याणि कृत्वाऽपि तदपेक्षितानि पूरयन् तदर्थं ध्रुवपदवद् अपूर्वाणि च वस्तून्युत्पादयन् आत्मानम् आत्मीयं च ते यथा निजं निजं

स्वयमेवोपयुञ्जमह इति भावयेयुस्तथा तेभ्यो प्रदाय तेषां कार्यसम्पादनेन स्वयं कृतकृत्यो भवन् स्वकृतं किमप्यस्मरन् तत्कृतसुकृतलवमेव च मनसि कलयन् अनादेः कालाद् रूढमूलवासनावासितानपि रसांस्ते यथा विस्मरेयुः, तथा तद्भोग्यभूतः भार्यापुत्रादीनां दोषेषु दृष्टेष्वप्यजानन्निव वर्तमानः पुरुषः तेषामपराधान् मनसाप्यस्मरन् प्रधानमहिष्या प्रदर्शितेष्वपराधेषु स्वयं तस्याः प्रतिपक्षीभूय निश्चलो रक्षन् कामिनीशरीरमलप्रणयी कामुक इव तेषां दोषान् भोग्यतयाऽङ्गीकृत्य तेषां विषये करणत्रयेणाप्यनुकूलः वियोगे सति तदीयः क्लेशः गोष्पदं यथा भवेत् तथा स्वयं क्लिश्यमानः तदानुकूल्याय स्वात्मानं नीचीकुर्वन् तेषां बन्धनताडनादियोग्यः सुलभो भवन् सद्यः प्रसूते वत्से स्नेहेन पूर्वप्रसूतं वत्सं यवसप्रदानार्थम् आगतांश्च शृङ्गाभ्यां खुरैश्च प्रहरन्ती धेनुरिव श्रियं देवीं सूरींश्चोपेक्ष्य तेषु स्निह्यन् वर्तते।

10.अयमेव सर्वस्य जगतः कारणम्।

11.केचित् परमाणून् कारणमाहुः परमाणुसद्भावे प्रमाणाभावात् श्रुतिविरोध ाच्च तदयुक्तम्।

12.कापिलास्तु प्रधानं कारणमाहुः, प्रधानस्याचेतन- त्वादीश्वराधिष्ठानाभावे परिणामासम्भवात् सृष्टिसंहार- व्यवस्थाऽसंभवाच्च तदप्ययुक्तम्।

13.कर्मपरतन्त्रतया दुःखितया च चेतनोऽपि न कारणं भवितुम् अर्हति।

14.तस्मादीश्वरः एव जगतः कारणम्।

15.अस्य च कारणत्वं नाविद्याकर्मपरनियोगादिहेतुकम्, अपितु स्वेच्छाप्रयुक्तम्।

16.संकल्पमात्रेण करणाज्जगत्सृष्टिर्नायासाय भवति। अस्याः प्रयोजनं लीलैव केवलम्, तर्हि संहारदशायां लीलाया भंगः स्यादिति चेन्न संहारस्यापि लीलात्वात्।

17.स्वयमेव जगद्रूपेण परिणमनाद् अयमुपादानकारणमपि भवति, तर्हि निर्विकारत्वं कथम्? इति चेत् स्वरूपस्य विकाररहितत्वात्, तर्हि कथं परिणामो भवति? इति चेत् विशिष्टविशेषणसद्वारकतया। न खलु कस्यचिद् ऊर्णनाभेर्यः स्वभावः सः सर्वशक्तेर्न संभवति।

18.ईश्वरेण क्रियमाणा सृष्टिर्नाम अचितः परिणमनम् चेतनस्य शरीरेन्द्रियप्रदानपुरस्सरं ज्ञानस्य विकासनं च

19.स्थितिकरणञ्च सस्यानां जलधारावत् सृष्टेषु वस्तुष्वनुप्रविश्य स्थित्वा सर्वविधरक्षाकरणम्।

20.संहरणं नाम अविनीतस्य पुत्रस्य पित्रा क्रियमाणं निगडबन्धनमिव विषयान्तरेषु प्रसक्तानां करणानां भञ्जनम्।

21.सृष्ट्यादित्रयमिदं प्रत्येकं चतुर्विधम्। सृष्टौ ब्रह्मणः प्रजापतीनां कालस्य सकलजन्तूनां चान्तर्यामी सन् रजोगुणयुक्तस्सृजति। स्थितौ विष्ण्वादिरूपेणावतीर्य, मन्वादिरूपेण शास्त्राणि प्रवर्त्य, सन्मार्गं प्रदर्श्य कालस्य सर्वेषां च भूतानामन्तर्यामी सन् सत्त्वगुणयुक्तः स्थापयति। संहारे रुद्रस्य अग्न्यन्तकादीनां कालस्य सकलभूतानां चान्तर्यामी सन् तमोगुणयुक्तस्संहरति।

22.कांश्चित् सुखिनः कांश्चिद् दुःखिनश्च सृजत ईश्वरस्य वैषम्यनैर्घृण्ये प्रसज्येयाताम् इति चेन्न कर्मणा हेतुना तथा करणात्, मृद्भक्षकशिशु-शिक्षकमातृन्यायेन हितपरतया करणाच्च।

23.मुन्नीर्ञालम्पडैत्त एन्मुहिल वण्णने (स.गी.3.2.1) इत्युक्तप्रकारेण विग्रहविशिष्टस्सन् सृष्ट्यादिकं करोति।

24.विग्रहश्च स्वरूपाद्, गुणेभ्यश्चात्यन्ताभिमतः, स्वानुरूपः, नित्यः, एकरूपः, शुद्धसत्त्वात्मकः चेतनदेहवत् ज्ञानमयस्य स्वरूपस्याच्छादनमकुर्वन् माणिक्यमयकरण्डकं स्वान्तर्निहितस्य कार्तस्वरस्येव स्वर्णच्छायस्य दिव्यात्मस्वरूपस्य प्रकाशकः निरवधिकतेजोरूपः, सौकुमार्यादिकल्याण-गुणगणनिधिः, योगिध्येयः, सकलजनमोहनः समस्तभोग- वैराग्यजनकः, नित्यमुक्तानुभाव्यः उत्फुल्लपंकजसुगन्धिमहातटाकवत् सकलतापहरः, अनन्तावतारकन्दभूतः, सर्वरक्षकः सर्वाश्रयभूतः, अस्त्रभूषणभूषितश्च।

25.ईश्वरस्वरूपं परव्यूहविभवान्तर्याम्यर्चावतारभेदेन पञ्चविधम्। तत्र परत्वं नाम अकालकाल्येऽनन्तानन्दमये देशविशेषे नित्यमुक्तैर्भोग्यतयावस्थानम्।

26.व्यूहो नाम सृष्टिस्थितिसंहारार्थं संसारिसंरक्षणार्थम् उपासकानुग्रहार्थं च संकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धरूपेणावस्थानम्।

27.परस्वरूपे ज्ञानादयः षड् गुणाः पूर्त्या प्रकाशन्ते, व्यूहेषु प्रत्येकं द्वौ द्वौ गुणौ प्रकाशेते। तत्र संकर्षणो ज्ञानबलाभ्यां युक्तो जीवतत्त्वमधिष्ठाय, तच्च प्रकृतेर्विविच्य प्रद्युम्नावस्थां च प्राप्य शास्त्रप्रवर्तनं जगत्संहारञ्च करोति। प्रद्युम्न ऐश्वर्यवीर्याभ्यां युक्तो मनस्तत्त्वमधिष्ठाय धर्मोपदेशं मनुचतुष्टयादि शुद्धवर्गसृष्टिं च करोति। अनिरुद्धस्तु शक्तितेजोभ्यां युक्तो रक्षणे तत्त्वज्ञानप्रदाने कालसृष्टौ मिश्रसृष्टौ चाधिकृतो भवति।

28.विभवश्चानन्ता गौणमुख्यभेदेन द्विविधाश्च मनुष्यत्वतिर्यक्त्वस्थावरत्ववत्

गौणत्वमपीच्छाकृतम्, न स्वरूपतः। तेष्वप्राकृतविग्रहा अजहत्स्वभावविभवाः दीपोत्पन्न दीपतुल्याः मुख्यप्रादुर्भावाः सर्वेऽपि मुमुक्षूणामुपास्याः। विधि शिवपावकव्यासजामदग्न्यार्जुनवित्तेशादयो गौणप्रादुर्भावाः सर्वेऽहंकारयुक्तजीवाधिष्ठातृत्वाद् मुमूक्षूणामनुपास्याः।

29.नित्योदितशान्तोदितादिभेदः जाग्रतसंज्ञादिचातुरात्म्यम्, केशवादिमूर्त्यन्तराणि, षट्त्रिंशद्भेदभिन्नाः पद्मनाभादिविभवाः, उपेन्द्रत्रिविक्रमदधिभक्तहयग्रीवनरनारायणहरिकृष्णमत्स्यकूर्मवराहाद्यवतारविशेषाः, तदीयभुजायुधवर्णकृत्यस्थानादिभेदाश्च दुरवधारतया गुह्यतमतया चात्र नोच्यन्ते।

30.अवतराणां हेतुरिच्छा, फलं साधुपरित्राणादित्रयम्। बहुषु प्रमाणेषु भृगुशापादिभिरजायतेत्युक्त्याऽवताराणां हेतुः कर्म न भवेत् किम् इति चेत् शापो व्याजमात्रम्, अवतारास्त्वैच्छिक एवेति तत्रैव समाहितम्।

31.अन्तर्यामित्वं नाम अन्तः प्रविश्य नियन्तृत्वम्, स्वर्गनरकप्रवेशाद्यवस्थास्वपि सर्वेषां चेतनानां सहायीभूय तदपरित्यागेनावस्थानम्, अथ च शुभाश्रयभूतदिव्यविग्रहविशिष्टतया तेषां ध्येयार्थ तेषां रक्षणार्थ च बन्धुभूय हृदयकमलेऽवस्थानं च।

32. अर्चावतारो नाम 'तमरुहन्ददेब्वुरुवम्' इत्युक्तप्रकारेण चेतनाभिमतद्रव्यविशेषे विभवविशेषवद् देशकालाधिकारिनियमम् अन्तरैव अपराधान् अपश्यतोऽर्चकपरतन्त्रसमस्तव्यापारवत आलयेषु गृहेषु चावस्थानम्।

33.रुचिजनकत्वम्, शुभाश्रयत्वम्, अशेषलोकशरण्यत्वं चेति सर्वमर्चावतारे परिपूर्णम्।

34.स्वस्वामिभावव्यत्यासेन अज्ञवदशक्तवदस्वतन्त्रवच्च वर्तमानोऽपि अपारकारुण्यपरवशस्सन् सर्वापेक्षितानि ददाति।

समाप्तम्।

तत्त्वत्रयम्

तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्यासहित

येनाऽऽवास्यमिदं सर्वं चेतनाऽचेतनात्मकम्।
विशुद्धसद्गुणौघं तं सीताराममुपास्महे।।1।।
रामदूतं हनूमन्तं गङ्गां नत्वा च सद्गुरुम्।
तत्त्वविवेचनीं व्याख्यां त्रितत्त्वस्य[1] करोम्यहम्।।2।।

1. चित्प्रकरणम्

1. मुमुक्षोः चेतनस्य मोक्षसिद्धये तत्त्वत्रयज्ञानमपेक्षितम्। तत्त्वत्रयं चिदचिदीश्वरश्च।

अर्थ-

मुमुक्षु चेतनको मोक्षप्राप्ति के लिए तीन तत्त्वों का ज्ञान अपेक्षित होता है। चित्, अचित् और ईश्वर ये तत्त्वत्रय कहलाते हैं।

व्याख्या-

बन्धन से सर्वथा रहित होकर आनन्दरूप परमात्मा का सतत अनुभव करना मोक्ष कहलाता है और मोक्ष की इच्छा करने वाले को मुमुक्षु कहा जाता है। निरतिशय आनन्दरूप ब्रह्मका अनुभव करना रूप मोक्ष में जीवात्मा का स्वाभाविक अधिकार है फिर भी अनादि कर्मरूप अविद्या के कारण उसका त्रिगुणात्मिका प्रकृति के कार्य शरीर से सम्बन्ध होता है, इस कारण वह बद्ध होकर संसार में त्रिविध तापों से संतप्त होता रहता है।

....

टिप्पणी - 1. तत्त्वत्रयस्य इत्यर्थः।

विवेकी पुरुष इससे बचना चाहता है अतः मोक्ष की कामना करता है। मुमुक्षा होने पर मोक्ष के साधन का अन्वेषण करता है और मोक्ष के साधन ब्रह्मविद्या से मोक्ष प्राप्त करता है। **'चेतति जानाति इति चेतनः'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार चेतन का अर्थ होता है - ज्ञाता अर्थात् ज्ञान का आश्रय। जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही चेतन हैं तथापि यहाँ मुमुक्षु पद के सामर्थ्य से जीवात्मा का ग्रहण होता है। अबाधित वस्तु को तत्त्व कहा जाता है, वह सत्य होता है - **तत्त्वं नाम अनारोपितं वस्तु परमार्थ इति यावत्।** भोक्ता आत्मा, भोग्य प्रकृति और प्रेरक ईश्वर को जानकर - **भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा** (श्वे.उ.1.12)। प्रकृति और जीवात्मा का स्वामी ईश्वर है, वह ज्ञानादि गुणों से पूर्ण है - **प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः** (श्वे.उ.6.16)। क्षर प्रधान है, अमृत और अक्षर भोक्ता जीव है, क्षर अचित् और अक्षर चित् पर शासन करने वाला एक देव ईश्वर है - **क्षरं प्रधानम् अमृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः** (श्वे.उ.1.10) इत्यादि प्रकार से चित् (चेतन जीवात्मा), अचित् (अचेतन प्रकृति) और ईश्वर (परमात्मा) रूप तीन तत्त्वों का प्रतिपादन वेदान्त शास्त्रमें किया जाता है। मोक्ष के लिए देहादि से भिन्न अपनी आत्मा का ज्ञान और आत्मा के अन्तरात्मारूप से ईश्वर का ज्ञान अनिवार्य होता है। देहादि अचित् हैं, आत्मा चित् है। देहादि से भिन्न प्रत्यगात्मा को समझने में चित् और अचित् का ज्ञान उपयोगी है तथा आत्मा के अन्तरात्मस्वरूप ईश्वर का साक्षात्कार करने में चित् और ईश्वर का ज्ञान उपयोगी है। इस प्रकार मोक्ष की प्राप्ति के लिए तीनों का ज्ञान अपेक्षित होता है।

शंका-

ब्रह्म को जानकर ही संसार का अतिक्रमण होता है, मोक्षप्राप्ति के लिए अन्य उपाय नहीं है - **तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय** (श्वे.उ.3.8)। इस प्रकार श्रुति में ब्रह्मरूप एक तत्त्व का ज्ञान ही मोक्ष का उपाय कहा जाता है तो तत्त्वत्रय का ज्ञान मोक्ष का उपाय कैसे हो सकता है?

समाधान-

जिस का ज्ञान मोक्ष का उपाय कहा जाता है, वह श्रुतिप्रतिपाद्य ब्रह्म

तत्त्व सविशेष ही है, निर्विशेष नहीं। सविशेष का अर्थ होता है - विशेषण से विशिष्ट (युक्त)। चित् और अचित् ब्रह्म के विशेषण हैं, ब्रह्म विशेष्य है। चिदचित्, अनन्तकल्याणगुणगण और दिव्यमंगलविग्रह से भी विशिष्ट ब्रह्म है। ये सभी अपृथक्सिद्ध विशेषण हैं और ये कभी भी ब्रह्मस्वरूप से पृथक् नहीं रहते हैं। जिस प्रकार दण्ड और कुण्डल से विशिष्ट देवदत्त एक ही होता है, उसी प्रकार चित् और अचित् से विशिष्ट ब्रह्म तत्त्व एक ही होता है। यही वेदवेद्य तत्त्व है, इसी के ज्ञान से मोक्ष होता है। इस प्रकार विवक्षा के भेद से एक तत्त्व है और तीन तत्त्व हैं, ये कथन संभव होते हैं। इन कथनों में कोई विरोध नहीं है। यहाँ दृष्टान्त से इतना भेद अवश्य है कि दण्ड और कुण्डल पृथक्सिद्ध विशेषण हैं, इस लिए ये कभी अपने आश्रय देवदत्त से पृथक् भी रहते हैं किन्तु चित् और अचित् अपृथक्सिद्ध विशेषण होने के कारण अपने आश्रय ब्रह्म से पृथक् कभी भी नहीं रहते हैं।

2.चिद् इति आत्मोच्यते, आत्मस्वरूपं 'गत्वा गत्वोत्तरोत्तरम्' इत्युक्तप्रकारेण देहेन्द्रियमनःप्राणबुद्धिभ्यो विलक्षणम्, अजडम्, आनन्दरूपम्, नित्यम्, अणु, अव्यक्तम्, अचिन्त्यम्, निरवयवम्, निर्विकारम्, ज्ञानाश्रयभूतम्, ईश्वरस्य नियाम्यम्, धार्यम्, शेषभूतञ्च।

अर्थ -

चित् शब्द से आत्मा कही जाती है। 'गत्वा गत्वोत्तरोत्तरम्' इस प्रकार प्रतिपादित आत्मस्वरूप देह से, इन्द्रियों से, मन से, प्राण से और बुद्धि से भिन्न है। (इन पाँचों से भिन्न आत्मतत्त्व) अजड है, आनन्दरूप है, नित्य है, अणु है, अव्यक्त है, अचिन्त्य है, निरवयव है, निर्विकार है, ज्ञान का आश्रय है, ईश्वर का नियाम्य, धार्य और शेष है।

व्याख्या -

जब तक अचेतन प्रकृति का ज्ञान नहीं होता तब तक उससे भिन्न अपनी आत्मा का ज्ञान नहीं होगा तथा आत्मा के भी अन्तरात्मा रूप से परमात्मा विद्यमान है अतः आत्मा के ज्ञान के पश्चात् ही परमात्मा

का ज्ञान हो सकता है इस लिए प्रथम अचेतन प्रकृति का निरूपण इसके पश्चात् चेतन आत्मा का निरूपण और बाद में परमात्मा का निरूपण किया जाता है किन्तु अचिद् से भिन्न तथा ब्रह्म के शेषरूप से जो ज्ञेय है उस आत्मस्वरूप का प्रतिपादन प्रथम होना चाहिए। इस अभिप्राय से यहाँ प्रथम चित् का प्रतिपादन किया जाता है।

प्रेक्षोपलब्धिश्चित् संवित् प्रतिपज्ज्ञप्ति चेतना (अ.को.15.1)। इस कोश के अनुसार ज्ञान का वाचक भावप्रत्ययान्त चित् शब्द है किन्तु तत्त्वत्रय प्रकारण में चेतन आत्मा का वाचक कर्तृप्रत्ययान्त चित् शब्द है। अपनी आत्मा और उसके प्रेरक परमात्मा को भिन्न जानकर ईश्वर की प्रीति का विषय बना हुआ साधक उस ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त करता है - **पृथग् आत्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति** (श्वे.उ.1.6) अचेतन प्रकृति और आत्मा पर शासन करने वाला एक ईश्वर है - **क्षरावात्मानावीशते देव एकः** (श्वे.उ.1.10) आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप और निर्मल है – **आत्मा ज्ञानानन्दमयोऽमलः (वि.पु.6.7.22)** इत्यादि शास्त्रवचनों में जीवात्मा के लिए आत्मा शब्द का प्रयोग देखा जाता है।

श्रीशठकोपस्वामीद्वारा विरचित तमिलग्रन्थ तिरुवायमोली है, इसका संस्कृत अनुवाद सहस्रगीति है। मूल तमिलग्रन्थ में आये शेन्नु शेन्नु परम्परमाय का संस्कृत अनुवाद गत्वा गत्वोत्तरोत्तरम् है। इस वचन के द्वारा प्रतिपादित आत्मस्वरूप का ग्रन्थकार वर्णन करते हैं। 'देहेन्द्रिय' यहाँ पर इन्द्रिय पद से बाह्येन्द्रियों का ही ग्रहण होता है क्योंकि अन्तर् इन्द्रिय मन का पृथक् कथन किया गया है।

अब उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया जाता है -

3.आत्मस्वरूपस्य देहादिविलक्षणत्वं कथमिति चेद् इत्थं देहादीनां 'मम देहादयः' इत्यात्मनो भिन्नतया भानात्, इदन्त्वेन भानात्, आत्मनश्च अहन्त्वेन भासमानत्वात्, एतेषां कदाचिद् भासमानत्वात् कदाचिदभानाच्च, आत्मनस्सदा भासमानत्वाच्च, एतेषां बहुत्वात् आत्मन एकत्वाच्च एतेभ्यो विलक्षण आत्मेत्यङ्गीकर्तव्यम्।

अर्थ -

यदि कहना चाहें कि आत्मस्वरूप की देहादि से भिन्नता कैसे है? तो (इसका उत्तर) इस प्रकार है - 'मेरे देहादि हैं'। इस प्रकार देहादि और आत्मा का भिन्नत्वेन ज्ञान होने से, देहादि का इदन्त्वेन ज्ञान और आत्मा का अहन्त्वेन ज्ञान होने से, देहादि का कभी ज्ञान होने और कभी ज्ञान न होने तथा आत्मा का सदा ज्ञान होने से, देहादि का बहुत्व और आत्मा का एकत्व होने से यह स्वीकार करना चाहिए कि देहादि से भिन्न आत्मा है।

व्याख्या -

पौराणिक कथाओं के अनुसार देवता और असुर दोनों दो माताओं से एक पिता द्वारा उत्पन्न भाई हैं। वे एक दूसरे को नीचा दिखाकर अपने को सुखी, समृद्ध और सम्पूर्ण जगत् का सम्राट बनाने के लिए परस्पर संघर्ष करते रहते हैं। इसमें देवताओं के गुरु हैं - बृहस्पति और असुरों के गुरु हैं - शुक्राचार्य। असुर धनबल और भुजबल से सदा ही देवताओं से प्रबल पड़ते रहे हैं और देवता उनसे दुर्बल अतः असुरों द्वारा दूसरे पक्ष का उत्पीडन देखकर देवगुरु बृहस्पति ने विचार किया कि असुरों को इस प्रकार प्रशिक्षित करना चाहिए। जिसके परिणामस्वरूप उनमें मृत्युभय की भावना उत्पन्न हो और वे संग्राम में देवताओं के समक्ष खड़ा होने का साहस न कर सकें। ऐसा विचार करके बृहस्पति ने चार्वाक बनकर असुरों के दल में प्रविष्ट होकर शनैः शनैः उन्हें अनात्मवाद का शिक्षण आरम्भ किया इससे उन्होंने शीघ्र ही असुरों को यह विषय दृढ़ता से हृदयंगम कराने में सफलता प्राप्त कर ली कि प्राणी की सत्ता केवल उसके वर्तमान जीवन तक है क्योंकि दृश्यमान जीवित शरीर से पृथक् आत्मा की कोई सत्ता नहीं है। उस की पुष्टि के लिए चार्वाक ने इस विषय का भी प्रतिपादन किया कि केवल प्रत्यक्ष प्रमाण स्वीकार करना चाहिए, दूसरे प्रमाण स्वीकार नहीं करने चाहिए क्योंकि प्रत्यक्ष ही प्रमेय पदार्थ को सिद्ध करने वाला है, दूसरे नहीं। जो प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञेय है, वही वास्तविक है और जो प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञेय नहीं है, उसका अभाव है। पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, बन्धन-मोक्ष, जप-तप, पूजा-पाठ, यज्ञ-श्राद्ध, देवी-देवता, पुनर्जन्म आदि प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध

नहीं हैं, अतः इनको मान्यता नहीं देनी चाहिए, ये वञ्चकों की मिथ्या कल्पनाएं हैं। अतः वर्तमान देह को सुखी, संपन्न और प्रभावपूर्ण बनाने के लिए जो कुछ भी करना पड़े, उसे कर लेना चाहिए। छान्दोग्योपनिषत् के अष्टम अध्याय के सप्तम और अष्टम प्रपाठक में एक कथानक उपलब्ध होता है जिससे असुरों का आत्मविषयक अज्ञान स्पष्ट होता है – प्रजापति ने अपने शिष्यों से कहा कि आत्मा पापरहित है, उसकी वृद्धावस्था नहीं होती, उसकी मृत्यु नहीं होती, उसे शोक नहीं होता, उसे भूख-प्यास नहीं लगती, वह सत्यकाम है, सत्यसंकल्प है। उसका अन्वेषण करना चाहिए, उसका साक्षात्कार करना चाहिए। जो उस आत्मा का अन्वेषण करके साक्षात्कार कर लेता है। वह सभी लोकों को प्राप्त कर लेता है, उसकी सारी कामनाएं पूर्ण हो जाती हैं। प्रजापति के इस उपदेश को कर्णपरम्परा से देवताओं और असुरों ने जाना। तब देवताओं के पक्ष से इन्द्र और असुरों के पक्ष से विरोचन समित्पाणि होकर प्रजापति के आश्रम में गये और वहाँ दोनों ब्रह्मचर्य के पालनपूर्वक बत्तीस वर्ष तक उनकी सेवा करते रहे। जब प्रजापति ने वहाँ रहकर दीर्घकाल तक सेवा करने का कारण पूँछा, तब उन दोनों ने बताया कि आपके द्वारा किये गये जिस आत्मा के उपदेश को दूसरों के माध्यम से सुना है, उसे आपसे जानने के लिए यहाँ आकर सेवा करते हुए निवास कर रहे हैं। प्रजापति ने कहा कि आँख में जो पुरुष दिखाई देता है, वही आत्मा है, वह सुखरूप है, भयरहित है, ब्रह्म है। प्रजापति के इस उपदेश से दोनों ने समझा कि आँख में जो द्रष्टा पुरुष की छाया दिखाई देती है, वही आत्मा है। दोनों ने अपने ज्ञान की दृढ़ता के लिए पुनः प्रश्न किया कि जैसे आँख में पुरुष की छाया दिखाई पड़ती है, वैसी ही जल और दर्पण में भी छाया दिखाई पड़ती है, इन तीनों में कौन आत्मा है? प्रजापति ने उत्तर दिया कि वे सभी आत्मा हैं, उनमें कोई भेद नहीं है। तुम दोनों घड़े में जल भरकर उसमें आत्मा को देखो और जो समझ में न आये, उसे पूँछो। दोनों ने जल भरे घड़े में अपने को देखा किन्तु क्या समझ में नहीं आया? इसे पूँछ नहीं सके और मौन बने रहे। प्रजापति ने पूँछा कि तुम दोनों क्या देख रहे हो? दोनों ने कहा कि नख से लेकर शिर तक अपना स्वरूप देख रहे हैं। प्रजापति ने पुनः कहा कि तुम दोनों उत्तम अलंकार धारण करके, उत्तम वस्त्र पहनकर, खूब सज कर जलपूर्ण

घड़े में अपने को देखो। दोनों ने वैसा ही किया। प्रजापति ने पूँछा कि अब आप क्या देख रहे हैं? दोनों ने उत्तर दिया कि जैसे हमने उत्तम अलंकार धारण किये हैं, उत्तम वस्त्र पहने हैं और खूब सजे हैं। वैसे ही जलपूर्ण घट में ये दोनों दिखाई दे रहे हैं। प्रजापति ने कहा कि जिसे तुम आँख में, जलपूर्ण घट में और दर्पण में देखते हो, वह आत्मा है, वह अमृत है, भयरहित है, ब्रह्म है। इस उपदेश से संतुष्ट होकर दोनों अपने अपने घर की ओर चल दिये। प्रजापति ने विचार किया कि मेरे उपदेश के अविचारित निश्चय किये गये अर्थ को जो वास्तविक अर्थ समझेगा वह अज्ञानी पराजित हो जायेगा।

देहात्मवाद की यह शिक्षा असुरों को पसन्द आयी। उन्होंने इसके आगे विचार करने का कोई प्रयास नहीं किया। उक्त विचारधाराओं से प्रभावित होने के कारण असुरों का राजा विरोचन आत्मज्ञान के उद्देश्य से प्रजापति के समीप अनेक वर्षों तक रहकर, उनसे आत्मा का उपदेश सुनकर भी आत्मज्ञान से वञ्चित ही रहा। उस ने विना विचार के निश्चय किये गये अर्थ को वास्तविक अर्थ समझकर अपने अनुचरों को उपदेश किया कि देह ही आत्मा है, वह पूज्य है, उसकी अच्छी प्रकार से संभाल करनी चाहिए। इस प्रकार असुर आत्मज्ञान से वञ्चित हो गये और देह को ही आत्मा समझने लगे।

मूल ग्रन्थ में आये देहादीनाम् पद में आदि से इन्द्रिय, मन, प्राण तथा बुद्धि को ग्रहण किया जाता है। कुछ चार्वाक देह को आत्मा मानते हैं, कुछ बाह्येन्द्रियों को आत्मा मानते हैं। कुछ मन को और कुछ प्राण को आत्मा मानते हैं। बौद्ध मत[1] और शांकर मत[2] में बुद्धि (ज्ञान) को आत्मा माना जाता है। देहादि से भिन्न आत्मा है। यदि देहादि ही आत्मा होते तो 'मैं देह हूँ, मैं इन्द्रिय हूँ, मैं मन हूँ, मैं प्राण हूँ और मैं बुद्धि हूँ' ऐसी अभेद प्रतीति (ज्ञान) होनी चाहिए किन्तु ऐसी प्रतीति नहीं होती बल्कि मेरा देह है, मेरी चक्षु आदि इन्द्रियाँ हैं, मेरा मन है, मेरा प्राण है, मेरी बुद्धि है, इस प्रकार देहादि और आत्मा का भिन्नरूप (भेद) से ज्ञान

टिप्पणी - 1. बौद्धमत में क्षणिक ज्ञान आत्मा है।

2. शांकर मत में नित्य ज्ञान आत्मा है।

होता है। इस कारण देहादि से भिन्न आत्मा मानी जाती है। यह देह है - 'इदम् शरीरम्', यह इन्द्रिय है - 'इदम् इन्द्रियम्' इत्यादि रीति से देहादि का 'इदम्' रूप से ज्ञान होता है तथा मैं आत्मा हूँ- 'अहमात्मा' इस प्रकार आत्मा का 'अहम्' रूप से ज्ञान होता है। देहादि का इदन्त्वेन तथा आत्मा का अहन्त्वेन ज्ञान होने के कारण देहादि से भिन्न आत्मा स्वीकृत होती है। देहादि विद्यमान होने पर सदा ज्ञात होते हों ऐसा नहीं है, बल्कि कभी उनका ज्ञान होता है, कभी नहीं होता किन्तु अपनी आत्मा का ज्ञान सदा होता है। किसी भी व्यक्ति को 'मैं नहीं हूँ' इस प्रकार अपने आत्मस्वरूप का अज्ञान कभी भी नहीं होता। इस कारण भी देहादि से भिन्न आत्मा मानी जाती है। हस्त, पाद आदि बहुत अवयवों का समुदायरूप देह है, इसलिए ग्रन्थकार के द्वारा देह बहुत कहा गया है। चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वक् के भेद से बाह्य इन्द्रियाँ अनेक हैं। **एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च** (मु.उ.2.1.3)। इस प्रकार भगवान् से प्राण, मन तथा अन्य इन्द्रियों की उत्पत्ति सुनी जाती है। उत्पन्न होने वाली वस्तु कभी निरवयव नहीं हो सकती है, वह सावयव ही होती है। उत्पन्न होने के कारण चक्षु आदि सभी बाह्येन्द्रियाँ अनेक अवयवों का समुदायरूप हैं, इसलिए अनेक कही गयी हैं, इसी प्रकार मन भी अनेक अवयवों का समूहरूप है, इसलिए उसे अनेक कहते हैं। प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान भेद से प्राण अनेक हैं, सावयव हैं। बुद्धि से विषय के प्रकाशक ज्ञान को लिया जाता है। धर्मभूतज्ञान ही विषय का प्रकाशक है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसके आश्रित एक ज्ञान रहता है, जिसे धर्मभूत ज्ञान कहा जाता है, इस ज्ञान का अधिकरण होने के कारण ही आत्मा को ज्ञाता कहा जाता है। घटज्ञान, पटज्ञान भेद से बुद्धि की वृत्तियाँ बहुत होने से बुद्धि को बहुत कहा जाता है। अनेक बुद्धि अर्थात् अनेक ज्ञान का आश्रय आत्मा एक ही है। इस प्रकार देहादि नाना होते हैं और उनका आश्रय आत्मा एक ही होती है। इस कारण भी देह, इन्द्रिय, मन, प्राण तथा बुद्धि से विलक्षण आत्मतत्त्व को स्वीकार करना चाहिए।[1]

टिप्पणी -1. देहादि से विलक्षण आत्मस्वरूपको विस्तार से समझने केलिए 'विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन' नामक ग्रन्थ के जीवात्मविवेचन' प्रकरण का अवलोकन करना चाहिए।

यद्यपि देहादि से विलक्षण आत्मस्वरूप को स्वीकार करने के लिए जो युक्तियाँ प्रदर्शित की गयी हैं, वे समीचीन हैं, प्रबल हैं, अकाट्य हैं। तथापि कोई कहना चाहे कि किसी भी युक्ति की स्थिरता नहीं होती है क्योंकि एक युक्ति से दूसरी युक्ति कट जाती है। इस पर ग्रन्थकार का कथन है कि इन युक्तियों का दूसरी युक्तियों से खण्डन संभव होने पर भी शास्त्रप्रमाण के बल से देहादि से भिन्न आत्मा को स्वीकार करना चाहिए। पद्मपुराण में कहा गया है कि ओम् शब्द में तीन वर्ण हैं - अकार, उकार और मकार। इनमें अकार से परमात्मा विष्णु कहे जाते हैं, उकार से जगदम्बा श्रीलक्ष्मी कही जाती हैं और मकार से पच्चीसवाँ तत्त्व जो कि इन दोनों का दास है, वह जीवात्मा कहा जाता है - **अकारेणोच्यते विष्णुः श्रीरुकारेण चोच्यते। मकारस्त्वनयोर्दासः पञ्चविंशः प्रकीर्तितः॥** (प.पु.उ.ख.226.23)। प्रकृति महत्, अहंकार, एकादश इन्द्रियाँ, पञ्च तन्मात्राएं और पञ्चभूत इन चौबीस पदार्थों से भिन्न 25 वाँ तत्त्व आत्मा है। शरीर का धारक वायु विशेष ही प्राण है। **देहन्द्रियमनः प्राणादिभ्योऽन्यः** (प.पु.उ.ख.226.28)। इस प्रकार देहादि से भिन्न आत्मा स्पष्ट कही गयी है। उक्त वचन में आदि पद से बुद्धि का ग्रहण होता है। **बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः** (प्र.उ.4.9) यह श्रुति बोद्धा पद से विज्ञान अर्थात् बुद्धि से भिन्न उसके आश्रय आत्मा को कहती है। इससे बुद्धि (ज्ञान) को आत्मा मानने वाले दार्शनिकों की मान्यता श्रुतिविरुद्ध सिद्ध होती है।

4.अजडत्वं नाम ज्ञानमन्तराऽपि स्वतो भासमानत्वम्।

अर्थ -

अजड का लक्षण है - ज्ञान के विना स्वयं प्रकाशित होना।

व्याख्या -

अजडत्व - जो पदार्थ ज्ञान के विना प्रकाशित (ज्ञात या विषय) नहीं होता है, वह जड कहलाता है, जैसे घटादि। जो पदार्थ ज्ञान के विना प्रकाशित होता है, वह अजड कहलाता है, जैसे - आत्मा। जड से भिन्न पदार्थ अजड होता है। अजड पदार्थ स्वयं प्रकाश होता है, जड परप्रकाश

होता है। अजड पदार्थ ज्ञानरूप होता है, जड पदार्थ ज्ञानरूप नहीं होता अतः वह प्रकाशित होने के लिए अपने से अन्य ज्ञान की अपेक्षा करता है इसलिए वह परतः प्रकाश या परतो भासमान कहा जाता है। अजड पदार्थ ज्ञानरूप होता है अतः वह प्रकाशित होने के लिए अपने से अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं करता है इसलिए स्वयंप्रकाश या स्वतो भासमान कहलाता है। जैसे अन्धकार में रखे घट को प्रकाशित करने के लिए दीपक के प्रकाश की अपेक्षा होती है किन्तु दीपक को प्रकाशित करने के लिए अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं होती क्योंकि दीपक स्वयं प्रकाश है। उसी प्रकार घटादि जड पदार्थों को प्रकाशित (ज्ञात) होने के लिए ज्ञान की अपेक्षा होती है किन्तु ज्ञान को प्रकाशित होने के लिए अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती क्योंकि ज्ञान स्वयंप्रकाश है। आत्मा दूसरे ज्ञान के विना स्वतः प्रकाशित होती है, इसलिए उसे अजड कहते हैं। अजड पदार्थ ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वयं प्रकाश है। हृदय में स्थित ज्ञानरूप आत्मा है **-हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः** (बृ.उ.4.3.7)। आत्मा ज्ञानस्वरूप है - **विज्ञानात्मा पुरुषः** (प्र.उ.4.9)। इस समय यह आत्मा स्वयं प्रकाश है - **अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति** (बृ.उ.4.3.9) इत्यादि श्रुतियाँ आत्मा के अजड अर्थात् स्वयंप्रकाश होने में प्रमाण हैं।

5.आनन्दरूपत्वञ्च सुखरूपत्वम्। सुप्तोत्थितस्य सुखमहमस्वाप्सम् इति परामर्शदर्शनात् सुखरूप आत्मा भवति।

अर्थ -

आनन्दरूप का लक्षण है - सुखरूपता। आत्मा सुखरूप है क्योंकि सोकर उठे हुए व्यक्ति का 'मैं सुख से सोया' ऐसा परामर्श देखा जाता है।

व्याख्या -

आनन्दरूपता - आत्मा का सुखरूप होना ही उसकी आनन्दरूपता है। सोकर उठा हुआ व्यक्ति यह समझता है कि 'मैं सुख से सोया' ऐसा समझना ही परामर्श है। जागने पर 'मैं सुख से सोया' इस प्रकार सुख का

स्मरण होता है। यह स्मरण अनुभव के विना नहीं हो सकता है। जिस विषय का अनुभव होता है, उसी विषय का स्मरण होता है इसलिए सुख के स्मरण के बल पर सुख का अनुभव स्वीकार करना पड़ता है। सुख का अनुभव कब हुआ? यह अनुभव जाग्रत अवस्था का नहीं है किन्तु सुषुप्ति से जागने पर स्मरण अवश्य होता है। इससे स्वीकार करना पडता है कि सुषुप्ति के समय सुख का अनुभव हुआ है। यह सुख विषयजन्य सुख नहीं है क्योंकि सुषुप्ति में मनसहित सभी इन्द्रियाँ अपने कार्यों से पूर्णतः उपरत होती हैं, उनका विषय के साथ सम्बन्ध नहीं होता। विषय-इन्द्रिय के सम्बन्ध से ही विषयजन्य सुख होता है। सुषुप्ति काल में विषय-इन्द्रिय का सम्बन्ध न होने से उस समय अनुभव में आने वाला सुख विषयसुख नहीं हो सकता है। वह सुख क्या है? वह सुख आत्मा का स्वरूप ही है। अनुकूल रूप से प्रतीत होने वाले ज्ञान को ही सुख या आनन्द कहते हैं। अपना ज्ञानरूप आत्मा किसी को भी प्रतिकूल प्रतीत नहीं होता, अनुकूल ही प्रतीत होता है। ज्ञानरूप आत्मा का अनुकूल रूप से अनुभव होता है, इसलिए आत्मा को सुखस्वरुप कहते हैं अतः सुषुप्ति में होने वाला सुख का अनुभव सुखरूप आत्मा का ही अनुभव है। यह अनुभव भी आत्मा का स्वरूप है, वृत्तिज्ञान नहीं। उस समय सभी इन्द्रियों के उपरत होने से कोई वृत्ति होती ही नहीं है। सुषुप्ति में होने वाले आत्मरूप आनन्द के अनुभव से जाग्रतकाल में आनन्द का स्मरण होता है। इस स्मरण के बल से आत्मा आनन्दरूप सिद्ध होती है। यह आत्मा आनन्दरूप, ज्ञानरूप तथा निर्मल है किन्तु दुःख, अज्ञान और मल प्रकृति के धर्म हैं, आत्मा के नहीं - **निर्वाणमय एवायमात्मा ज्ञानमयोऽमलः। दुःखाज्ञानमला धर्माः प्रकृतेस्ते तु नात्मनः।** (वि.पु.6.7.22) आत्मा ज्ञानरूप तथा आनन्दरूप है - **ज्ञानानन्दमयस्त्वात्मा** इत्यादि प्रमाणों से भी आत्मा को आनन्दरूप स्वीकार करते हैं।

6.नित्यत्वं नाम सदा वर्तमानत्वम्, सदा वर्तते चेज्जन्ममरणे कथं भवतः? इति चेद् देहसम्बन्धो जन्म, देहवियोगो मरणम्।

अर्थ - नित्य का लक्षण है- सदा विद्यमान रहना। यदि आत्मा सदा रहती

है तो उसके जन्म और मृत्यु कैसे होते हैं? (तो इसका उत्तर है -) (आत्मा का) नूतन देह के साथ सम्बन्ध होना ही (आत्मा का) जन्म है और (आत्मा से) पूर्वदेह का वियोग होना ही (आत्मा की) मृत्यु है।

व्याख्या -

नित्यत्व - आत्मा भूत, वर्तमान और भविष्यत् इन तीनों कालों में विद्यमान रहने वाली है। तीनों कालों में रहना ही उसका नित्यत्व है। वह अनन्त भूत में थी, अब है और अनन्त भविष्य में रहेगी। उसका अभाव न तो पहले था, अब नहीं है और आगे भी नहीं होगा। **सर्वकालवर्तमानत्वं हि नित्यत्वम्** (श्रीभा.1.1.1) ऐसा श्रीभाष्यकार स्वामीजी ने जिज्ञासाधि करण में कहा है। आत्मा अजन्मा है और नित्य है - **अजो नित्यः** (क. उ.1.2.18), आत्मा नित्यों में नित्य है - **नित्यो नित्यानाम्** (क.उ.2.2.13) यहाँ नित्यानाम् पद से नित्य आत्माएं कही जाती हैं और नित्य पद से नित्य परमात्मा कहा जाता है। आत्मा जन्म नहीं लेती है, मरती भी नहीं है - **न जायते म्रियते वा विपश्चिद्** (क.उ.2.2.13)। नित्य आत्मा के ये शरीर विनाशी है - **अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता शरीरिणः** (गी.2.18) इत्यादि वचन आत्मा के नित्यत्व का निरूपण करते हैं।

शंका-

यदि आत्मा नित्य है तो उसके जन्म और मरण कैसे सम्भव होते हैं?

समाधान-

आत्मा का नूतन देह के साथ सम्बन्ध ही आत्मा का जन्म है और आत्मा से पूर्वदेह का वियोग ही आत्मा की मृत्यु है, जैसे- प्राणी जन्म लेता है, इसका अर्थ है 'आत्मा का नूतन देह के साथ सम्बन्ध होता है और प्राणी मरता है, इसका अर्थ है कि आत्मा का पूर्व देह से वियोग होता है। जन्म और मृत्यु की ऐसी परिभाषा होने से शास्त्रों में वर्णित आत्मा के नित्यत्वप्रतिपादक उक्त वचन सार्थक होते हैं तथा जिससे सभी प्राणी (बद्ध आत्माएं) जन्म लेते हैं- **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते** (तै.उ.3.

1.2)। हे सोम्य! ये सभी प्राणी सत् वस्तु से उत्पन्न हुए हैं, सत् में स्थित हैं और सत् में लीन (मृत्यु को प्राप्त) होने वाले हैं- **सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः** (छां.उ.6.8.4)। परमात्मा ने प्राणियों की रचना की - **प्रजापतिः प्रजा असृजत** (ग.पू.उ.1.2) इत्यादि आत्मा के जन्म-मरण के बोधक वचन भी सार्थक होते हैं। आत्मा का स्वरूपतः जन्म नहीं होता है और मृत्यु भी नहीं होती। बद्धावस्था में उत्तर देह के साथ सम्बन्धरूप जन्म और पूर्वदेह का वियोगरूप मृत्यु कर्म उपाधि के कारण होती है।

पूर्व में प्रतिपादित देहादि से विलक्षण, अजड, आनन्दरूप, नित्य आत्मा का विभु होना सम्भव है। इस अभिप्राय से जिज्ञासु प्रश्न करता है -

7.अणुत्वं कथमिति चेत्? हृदयप्रदेशाद् उत्क्रामति गच्छत्यागच्छति चेति शास्त्रे प्रतिपादनाद् अणुः आत्मा भवति।

अर्थ-

(आत्मा का) अणु परिमाण कैसे होता है? (आत्मा देहत्याग के समय) हृदय स्थान से उत्क्रमण करती है, (अन्यलोकों में) जाती है और (उन लोकों से) आती है, ऐसा शास्त्र में प्रतिपादन किया गया है, इससे आत्मा अणु परिमाणवाली सिद्ध होती है।

व्याख्या-

अणु परिमाण- यह आत्मा हृदय में रहती है - **हृदि ह्येष आत्मा** (प्र.उ.3.6.) ज्ञानरूप आत्मा हृदय में रहती है - **हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः** (बृ.उ.4.3.7)। हृदय में रहने वाली यह आत्मा आँख से, मूर्धा (ब्रह्मरन्ध्र) से अथवा शरीर के अन्य स्थानों से निकलती (उत्क्रमण करती) है- **एष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः।** (बृ.उ.4.4.2) मृत्यु के समय आत्मा के उत्क्रमण करने पर प्राण उत्क्रमण करता है, प्राण के उत्क्रमण करने पर सभी इन्द्रियाँ उत्क्रमण

करती हैं- **तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति, प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति।** (बृ.उ.4.4.2) इत्यादि वाक्यों के द्वारा आत्मा की शरीर से उत्क्रान्ति[1] कही गयी है। जो इस लोक से ऊर्ध्व लोक को जाते हैं, वे सब चन्द्रलोक को ही जाते हैं - **ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति।** (कौ.उ.1.9) इस श्रुति से आत्मा की गति का वर्णन किया गया है। आत्मा कर्म करने के लिए स्वर्गलोक से पुनः इस लोक में आ जाती है - **तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे।** (बृ.उ.4.4.6) इस वचन के द्वारा आत्मा का आगमन कहा जाता है। आत्मा को विभु स्वीकार करने पर उसका उत्क्रमण, गमन तथा आगमन संभव नहीं। उत्क्रान्ति आदि का शास्त्र में प्रतिपादन है, इससे आत्मा का अणु परिमाण सिद्ध होता है। अणु आत्मा का शरीर से निकलना लोकान्तर में गमन तथा आगमन सम्भव है। यह आत्मा अणु है- **एषोऽणुरात्मा** (मु.उ.3.1.9)

आत्मा को विभु स्वीकार करने वाले विद्वानों की शंका और उसका समाधान प्रस्तुत किया जाता है-

8.ननु अणुः हृदयदेशे तिष्ठति तर्हि सर्वत्र शरीरे सुखदुःखे कथमनुभवति? इति चेन्न मणिद्युमणिदीपादीनां क्वचिदवस्थानेऽपि प्रभायाः सर्वत्रैकरूपेण व्याप्तिवद् ज्ञानस्य सर्वत्रैकरूपेण व्याप्त्या तदनुभवो न विरुध्यते।

अर्थ-

यदि अणु परिमाण वाली आत्मा हृदय स्थान में रहती है तो वह सम्पूर्ण शरीर मे होने वाले सुख दुःख का अनुभव कैसे करती है? यह कथन उचित नहीं क्योंकि जिस प्रकार मणि, सूर्य और दीपक आदि की किसी एक स्थान में स्थिति होने पर भी उन (मणि आदि) की प्रभा की सभी स्थानों पर समानरूप से व्याप्ति होती है, उसी प्रकार (अणु ज्ञानरूप आत्मा की हृदय में स्थिति होने पर भी उसके आश्रित रहने वाले धर्मभूत)

टिप्पणी - 1. गमन की पूर्वकालिक अवस्था उत्क्रान्ति होती है।

ज्ञान की सम्पूर्ण शरीर में समानरूप से व्याप्ति होती है, इसलिए (सम्पूर्ण शरीर में होने वाले) सुख-दुःख का अनुभव करने में विरोध नहीं है।

व्याख्या-

शंका-

यदि आत्मा का विभु परिमाण होता तो वह सम्पूर्ण शरीर में रहकर उसमें होने वाले सुखदुःख का अनुभव करती किन्तु वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार आत्मा अणु है, वह हृदय में रहती है, सम्पूर्ण शरीर में नहीं रहती तो वह उसमें होने वाले सुखदुःख का अनुभव कैसे करती है?

समाधान-

धर्मभूतज्ञान के द्वारा आत्मा की सम्पूर्ण शरीर में व्याप्ति- अणु, ज्ञानरूप आत्मा के आश्रित एक ज्ञान रहता है। यह आत्मा का धर्म (गुण या विशेषण) होने से धर्मभूत ज्ञान कहलाता है। यद्यपि अणु आत्मा हृदय में ही रहती है फिर भी उसका ज्ञान गुण व्यापक है। यह ज्ञान अनादि कर्मरूप अविद्या से संकुचित होकर देहव्यापी हो जाता है। जिस प्रकार कमरे के एक स्थान में स्थित मणि या दीपक की प्रभा सम्पूर्ण कमरे में व्याप्त होकर रहती है, उसी प्रकार देह के एक भाग हृदय में रहने वाली आत्मा का धर्मभूत ज्ञान सम्पूर्ण देह में व्याप्त होकर रहता है और जिस प्रकार आकाश के एक भाग में स्थित सूर्य की प्रभा सम्पूर्ण संसार में व्याप्त होकर रहती है, उसी प्रकार शरीर के एक भाग में स्थित आत्मा का ज्ञान गुण सारे शरीर में व्याप्त होकर रहता है। इस विषय का **गुणाद् वालोकवत्** (ब्र.सू 2.3.26) इस सूत्र में प्रतिपादन किया गया है।

सुख-दुःख का अनुभव- जैसे मणि और दीपक अपनी प्रभा के द्वारा सब ओर पदार्थों को प्रकाशित करते हैं, वैसे ही आत्मा अपने ध र्मभूत ज्ञान के द्वारा शरीर के प्रत्येक भाग में होने वाले सुखदुःख को प्रकाशित (अनुभव) करती है और जैसे आकाश के एक भाग में विद्यमान सूर्य अपनी प्रभा से सम्पूर्ण संसार को प्रकाशित करता है। वैसे ही शरीर

के एक भाग में स्थित आत्मा अपने धर्मभूत ज्ञान से सम्पूर्ण शरीर को और उसमें विद्यमान सुखदु:ख को प्रकाशित (अनुभव) करती है - **यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥** (गी.13.33) शिर में सुखद औषध को लगाने पर मेरे शिर में सुख है और पैर में चोट लग जाने पर मेरे पैर में दुख है (पीड़ा है), इस प्रकार आत्मा सम्पूर्ण शरीर में होने वाले सुख-दु:ख का धर्मभूत ज्ञान के द्वारा अनुभव करती है।

आत्मा धर्मभूत ज्ञान के द्वारा शरीरव्यापी सुखदु:ख का अनुभव करती है, ऐसा सिद्ध होने पर भी यदि आत्मा को विभु नहीं मानेंगे तो एक काल में एक ही योगी का अनेक शरीर धारण करना सम्भव नहीं होगा, ऐसी शंका होने पर कहते हैं -

9.एकस्यैककालेऽनेकदेहपरिग्रहोऽपि ज्ञानव्याप्त्या।

अर्थ-

ज्ञान की व्याप्ति से एक काल में एक आत्मा के ही अनेक शरीरों का धारण करना भी संभव होता है।

व्याख्या-

योगी का अनेक शरीर धारण-

देह के आरम्भक प्रारब्ध कर्म के कारण आत्मा का ज्ञान गुण एक देह में व्याप्त होकर रहता है, दूसरी देह में व्याप्त नहीं होता इसलिए आत्मा भिन्न काल में भिन्न शरीर को धारण करती है यह कथन निर्विवाद है किन्तु एक ही शरीर में आत्मा रहने पर भी धर्मभूतज्ञान की व्याप्ति के द्वारा सौभरि आदि योगी अनेक शरीर धारण करते हैं। योगसिद्धि से योगियों के धर्मभूत ज्ञान का अनेक शरीर में प्रसार (व्याप्ति) होता है, जिससे वे अनेक शरीर से सुखदु:ख का अनुभव करते हैं।

10.अव्यक्तत्वं नाम घटपटादिग्राहकैः चक्षुरादिभिः अव्यङ्ग्यत्वम्।

अर्थ-

घट, पट आदि के ज्ञान के साधन चक्षु आदि इन्द्रियों से ग्राह्य (ज्ञेय) न होना अव्यक्त का लक्षण है।

व्याख्या-

अव्यक्तत्व-

घट, पटादि लौकिक पदार्थों के ज्ञान का साधन इन्द्रियाँ हैं। चक्षु इन्द्रिय से रूप और रूपवान् पदार्थों का ज्ञान होता है। आत्मा रूप नहीं है और रूपवान् भी नहीं है। अतः वह चक्षु इन्द्रिय से ग्राह्य नहीं है। श्रोत्र से ग्राह्य शब्द होता है, आत्मा शब्द से भिन्न है, अतः वह श्रोत्र से ग्राह्य नहीं है। घ्राण और रसना से क्रमशः गन्ध और रस ज्ञेय होते हैं। आत्मा गन्ध और रस से भिन्न है अतः वह घ्राण और रसना से ग्राह्य नहीं है। त्वक् इन्द्रिय से स्पर्श और स्पर्शवाले पदार्थ ग्राह्य होते हैं। आत्मा इन दोनों से भिन्न है, अतः वह त्वक् इन्द्रिय से ग्राह्य नहीं है। इस प्रकार छेदन आदि के योग्य और उत्पत्ति-विनाशवाले पदार्थों के ज्ञान की साधन चक्षु आदि इन्द्रियाँ होती हैं। आत्मा वैसा पदार्थ नहीं है, वह उनसे विलक्षण है इसलिए आत्मा चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा व्यक्त (ग्राह्य) नहीं होती है। मन से पूर्व में अनुभव किये गये पदार्थों का स्मरण होता है। इस प्रकार मन से ग्राह्य पूर्वानुभूत पदार्थ होता है। वह भी घट आदि के समान ही छेदन आदि के योग्य तथा उत्पत्ति-विनाश वाला होता है। उसका ग्राहक (ज्ञान का साधन) अशुद्ध मन होता है अतः आत्मा पूर्व में अनुभव किये गये पदार्थ के ज्ञान का साधन अशुद्ध मन से ग्राह्य नहीं है। चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों से तथा अशुद्ध मन से ज्ञात न होने के कारण आत्मा को अव्यक्त कहते हैं। वह सर्वथा अग्राह्य (अविषय) नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर आत्मा गगनकुसुमादि के समान तुच्छ होगी। अनुमान और शास्त्रप्रमाण से उसका परोक्ष ज्ञान होता है और साधना करने पर विशुद्ध मन से साक्षात्कार (प्रत्यक्ष ज्ञान) होता है। अव्यक्त आत्मा स्वसंवेद्य (स्वंयप्रकाश) भी है। **अव्यक्तोऽयम्** (गी. 2.25) इस प्रकार गीता में आत्मा को अव्यक्त कहा है।

घटादि के बोधक प्रमाणों से आत्मा का ज्ञान नहीं होता है इसलिए

उसका चिन्तन भी नहीं किया जा सकता, ऐसी शंका होने पर कहते हैं -

11.अचिन्त्यत्वं नाम अचित्सजातीयतया चिन्तनानर्हत्वम्।

अर्थ-

अचिन्त्य का लक्षण है- अचेतन पदार्थ के सजातीयरूप से चिन्तनयोग्य न होना।

व्याख्या-

अचिन्त्यत्व-

जो अचेतन के सजातीयरूप से चिन्तनयोग्य नहीं होता है, उसे अचिन्त्य कहते हैं। अचेतन का सजातीय अचेतन ही होता है, इसलिए अचेतन के सजातीयरूप से चिन्तनयोग्य अचेतन ही होता है। अचेतन का सजातीय चेतन आत्मा नहीं होती अत: अचेतन के सजातीय रूप से चिन्तनयोग्य आत्मा नहीं होती है। अचित् के सजातीय रूप से चिन्तन करने योग्य न होना ही आत्मा का अचिन्त्यत्व है। आत्मा सर्वथा चिन्तन के अयोग्य नहीं है क्योंकि वैसा मानने पर श्रुति में कहे गये श्रवणमननादि साधन व्यर्थ होंगे। आत्मा का देहादिविलक्षणत्वेन, स्वयंप्रकाशत्वेन, आनन्दरूपत्वेन और शेषत्वेन चिन्तन किया ही जाता है। **अचिन्त्योऽयम्** (गी. 2.25) इस प्रकार गीता में आत्मा अचिन्त्य कही गयी है।

12.निरवयवत्वं नाम अवयवसमुदायानात्मकत्वम्।

अर्थ -

अवयवसमुदाय रूप न होना निरवयव का लक्षण है।

व्याख्या -

निरवयवत्व -

अवयवसमुदायात्मक का अर्थ है - अवयवों का समूह, सावयव

का भी यही अर्थ है। वेदान्तसिद्धान्त में विलक्षणसन्निवेश से विशिष्ट अवयवसमुदाय ही अवयवी (सावयव) कहा जाता है। अवयव से रहित को निरवयव कहते हैं। घटादि अचेतन पदार्थ सावयव होते हैं, उनसे भिन्न चेतन आत्मा निरवयव है। अवयव का अर्थ है - खण्ड भाग या टुकड़ा। घटादि पदार्थों के अवयव होते हैं, आत्मा के अवयव नहीं होते अवयवसमुदाय से भिन्न होना ही आत्मा का निरवयवत्व है।

13.निर्विकारत्वं नाम अचिद्वद्विकाररहिततया सदैकरूपत्वम्।

अर्थ-

अचेतन के समान विकार से रहित होने के कारण सदा एकरूप रहना निर्विकार का लक्षण है।

व्याख्या-

निर्विकारत्व-

अचेतन वस्तु विकार वाली होती है, उसके 6 विकार[1] होते हैं - 1. उत्पन्न होना, 2. अस्तित्व (विद्यमान होना), 3.वृद्धि (बढ़ना), 4. निरन्तर परिणाम, 5. क्षीण होना, 6. नष्ट होना। इन विकारों से युक्त अचेतन कार्य होता है, चेतन नहीं होता। अचेतन कार्य पूर्व में विद्यमान नहीं होता है, उसकी उत्पत्ति होती है। चेतन आत्मा तो पूर्व से ही विद्यमान रहती है, अत: उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती।

पूर्व में नित्य आत्मा से नूतन देह के सम्बन्ध को ही आत्मा का

....

टिप्पणी - 1.**षड्भावविकाराः भवन्तीति वार्ष्यायणिः। जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति।** (नि.1.1.3) भवतीति भावः, भावस्य विकाराः भावाश्च ते विकाराः वा। तत्र उत्पद्यमानावस्था जन्म, उत्पन्नाऽवस्था च अस्तित्वम् उत्तरावस्थाप्राप्ति परिणामः, तस्याधिक्यं वृद्धिः, क्षयः नाशस्य पूर्वावस्था, नाशस्तु कारणावस्थाप्राप्त्येव इति परस्परं भेदः विवक्षणीयः।

जन्म कहा था किन्तु यहाँ वैसी स्थिति नहीं है। वेदान्तसिद्धान्त में सत्कार्यवाद स्वीकृत है। इसके अनुसार कार्य उत्पत्ति से पहले कारणरूप से विद्यमान रहता है, कार्यरूप से विद्यमान नहीं रहता। इस प्रकार उत्पत्ति से पहले कार्य का अभाव होता है। कारण को कार्यत्वावस्था की प्राप्ति ही कार्य की उत्पत्ति है। जैसे मिट्टी कारण है, घट कार्य है। मिट्टी को घटत्वावस्था की प्राप्ति ही घट की उत्पत्ति है किन्तु चेतन आत्मा को वैसी किसी भी आगन्तुक अवस्था की प्राप्ति नहीं होती है। अतः नूतन देह का सम्बन्धरूप जो आत्मा का जन्म है, वह आत्मा का विकार नहीं है, अतः उससे आत्मा विकार वाली नहीं होती है किन्तु उत्पत्ति अचेतन का विकार है। अतः उससे अचेतन पदार्थ विकार वाला होता है। अचेतन का अस्तित्व तो उसके उत्पत्ति के पश्चात् होता है, वह उत्पत्ति के अधीन है किन्तु चेतन का अस्तित्व सदा रहता है, वह उत्पत्ति के अधीन नहीं है। उत्पत्ति के पश्चाद् होने वाला अस्तित्व अचेतन का विकार है, चेतन का नहीं। बढना, निरन्तर परिणत (परिवर्तन) होना ये अचेतन शरीरों के विकार हैं, आत्मा के नहीं। अचेतन कार्य को कारणत्वावस्था की प्राप्ति ही कार्य का नाश है। पूर्व देह का वियोगरूप जो मृत्यु है, वह आत्मा की कही गयी है। आत्मा तो देहवियोग से पूर्व थी और पश्चात् भी रहती है। उसका नाश नहीं होता है। इस विवरण से सिद्ध होता है कि अचेतन पदार्थ के समान विकार वाली आत्मा नहीं होती है और इन से रहित होने के कारण सदा एकरूप रहती है इसलिए उसे निर्विकार कहते हैं। गीता में **अविकार्योऽयम्** (गी.2.25) इस प्रकार आत्मा को निर्विकार कहा गया है।

14.एवंरूपतया शस्त्राग्निजलवातातपादिभिः छेदनदहन-क्लेदनशोषणादिकरणाऽयोग्यत्वम्।

अर्थ-

निरवयव और निर्विकार होने से आत्मा में शस्त्र, अग्नि, जल, वायु, और आतपादि के द्वारा काटने, जलाने, गीला करने और सुखाने आदि की योग्यता नहीं है।

व्याख्या-

शस्त्रादि के द्वारा छेदनादि असम्भव-

पूर्व अंश की व्याख्या में अचेतन के विकारों का वर्णन किया जा चुका है। जो वस्तु अवयववाली और विकारवाली होती है, वह शस्त्रादि से छेदनकरणयोग्य, दहनकरणयोग्य, क्लेदनकरणयोग्य और शोषणादिकरणयोग्य होती है अर्थात् जो वस्तु सावयव और विकारवाली होती है, वह शस्त्र से काटने योग्य होती है, तथा अग्नि से जलाने योग्य, जल से गीला करने योग्य, वायु से सुखाने योग्य और धूप से गर्मी पहुँचाने योग्य होती है। अवयवरहित तथा पूर्व में प्रदिपादन किये गये सभी प्रकार के विकारों से रहित आत्मा है, इसलिए उसे शस्त्र से नहीं काट सकते, अग्नि से जला नहीं सकते, जल से भिगा नहीं सकते, वायु से सुखा नहीं सकते, धूप से गर्म नहीं कर सकते, बर्फ से ठंडा नहीं कर सकते। शस्त्र से छेद्य, अग्नि से दाह्य, जल से क्लेद्य और वात से शोष्य जो पदार्थ होते हैं, उनम शस्त्रादि प्रवेश करके छेदनादि कार्य करते हैं क्योंकि शस्त्रादि उन पदार्थों से सूक्ष्म हैं। वे छेद्य आदि पदार्थों में प्रवेश करने के योग्य हैं किन्तु आत्मा सबसे अधिक सूक्ष्म है अतः उनमें शस्त्रादि प्रविष्ट नहीं हो सकते इसलिए उसका छेदन आदि नहीं कर सकते हैं। श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है - **नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः। न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः** (गी. 2.23)।। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण आत्मा का शिला आदि सभी पदार्थों में प्रवेश करने का सामर्थ्य है इसीलिए वह अणु होने पर भी गीता 2.24 में सर्वगत कही गयी है।

15.आर्हता आत्मा देहपरिमाण इत्याहुः। तच्छ्रुतिविरुद्धम्। अनेकदेहपरिग्रहं कुर्वतां योगिनां स्वरूपस्य शैथिल्यञ्च प्रसज्येत।

अर्थ-

आत्मा देह के समान परिमाणवाली है, ऐसा जैन विद्वान् कहते हैं। वह कथन श्रुतिविरुद्ध है और वैसा स्वीकार करने पर अनेक देह धारण करने वाले योगियों के आत्मस्वरूप की शिथिलता (ढीलापन) का प्रसङ्ग होगा।

व्याख्या-

जैनमत -

जैनमत के अनुसार आत्मा का देह के समान परिमाण है अर्थात् देह के छोटा होने पर आत्मा छोटी होती है और देह के बड़ा होने पर आत्मा बड़ी होती है। वह मनुष्य की देह में मनुष्य के समान परिमाण वाली, हाथी की देह में हाथी के समान परिमाण वाली और चींटी की देह में चींटीके समान परिमाण वाली होती है। इससे शरीरव्यापी सुख-दुःख का अनुभव सुगमता से होता है।

निराकरण-

उक्त मत श्रुति से विरुद्ध है, क्योंकि विशुद्ध मन से साक्षात्कार करने योग्य यह आत्मा अणु है- **एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः।** (मु. उ.3.1.9) सुई के अग्रभाग से भी अत्यन्त सूक्ष्म आत्मा का प्रतिपादन किया जाता है- **आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः** (श्वे.उ.5.8) इत्यादि श्रुतियाँ आत्मा के अणु परिमाण का कथन करती हैं। इस विषय का **स्वशब्दोन्मानाभ्यां च** (ब्र.सू.2.3.23) इस सूत्र में निरूपण किया गया है।

योगी जब अनेक शरीरों को धारण करता है तब उसके आत्मस्वरूप के शिथिल होने का प्रसङ्ग होता है क्योंकि एक शरीर में रहने वाली देह के समान परिणाम वाली आत्मा की शिथिलता हुए विना वह अनेक शरीर में नहीं रह सकती है। इसी प्रकार अनेक शरीरधारी योगी जब केवल एक शरीर धारण करता है, तब आत्मा के घनीभूत होने का प्रसङ्ग होता है क्योंकि अनेक शरीर में रहने वाली, शरीर के समान परिमाण वाली आत्मा घनीभूत हुए विना एक शरीर में नहीं रह सकती है। इसी प्रकार चींटी शरीर से हाथी शरीर प्राप्त होने पर और हाथी शरीर से चींटी शरीर प्राप्त होने पर उपर्युक्त दोष की प्रसक्ति होती है।

निर्विकारत्व की व्याख्या करके अब ज्ञानाश्रयत्व की व्याख्या आरम्भ करते हैं -

16.ज्ञानाश्रयत्वं नाम ज्ञानाधारत्वम्। आत्मा ज्ञानाधारो यदि न स्यात्, ज्ञानमात्रं स्यात्, तदाऽहं ज्ञानमित्येव प्रतिसन्दधीत न त्वहं जानामीति।

अर्थ -

ज्ञान के आश्रय का लक्षण है- ज्ञान का आधार होना। यदि आत्मा ज्ञान का आधार न होती, केवल ज्ञान होती तो 'मैं ज्ञान हूँ' ऐसा ही अनुभव होना चाहिए किन्तु 'मैं जानता हूँ' ऐसा अनुभव नहीं होना चाहिए।

व्याख्या-

ज्ञानाश्रयत्व-

दीपक कक्ष के एक स्थान में रहता है किन्तु उसकी प्रभा (प्रकाश) सम्पूर्ण कमरे में व्याप्त होती है। वह (प्रभा) कमरे को प्रकाशित करती है। सूर्य आकाश के एक स्थान में रहता है, किन्तु उसकी प्रभा सम्पूर्ण संसार में व्याप्त होती है, वह सारे संसार को प्रकाशित करती है। आत्मा की शरीर के एक भाग में स्थिति होती है किन्तु उसका ज्ञान गुण (धर्मभूत ज्ञान) पूरे देह में व्याप्त रहता है, वह शरीर में होने वाले सुखदु:ख को प्रकाशित करता है। आत्मा का धर्मभूत ज्ञान द्वारा मन से सम्बन्ध होता है, मन का चक्षु आदि इन्द्रिय से, इन्द्रिय के द्वारा धर्मभूत ज्ञान घटादि विषय से सम्बन्धित होकर, विषयाकार होकर विषय को प्रकाशित करता है। धर्मभूत ज्ञान का घटाकार परिणाम ही घट ज्ञान है, पटाकार परिणाम ही पटज्ञान है। इसे (ज्ञान के विषयाकार परिणाम को) ही वृत्ति कहते हैं। इस प्रकार आत्मा धर्मभूत ज्ञान द्वारा विषयों को प्रकाशित (अनुभव) करती है।

जिस प्रकार दीपक और प्रभा ये दोनों तेज पदार्थ होने पर भी प्रभा का आश्रय दीपक होता है तथा सूर्य और उसकी प्रभा दोनों तेज पदार्थ होने पर भी प्रभा का आश्रय सूर्य होता है, उसी प्रकार आत्मा और धर्मभूतज्ञान ये दोनों ज्ञान होने पर भी धर्मभूतज्ञान का आश्रय आत्मा होती है। जैसे दीपक और सूर्य का अपृथक्सिद्ध धर्म प्रभा है वैसे ही आत्मस्वरूप का अपृथक्सिद्ध धर्म ज्ञान है। इन दोनों में यह भेद है कि आत्मा का

स्वरूपभूत ज्ञान केवल आत्मस्वरूप को प्रकाशित करता है तथा ध र्मभूतज्ञान विषय का, अपना (ज्ञान का) और अपने आश्रय आत्मा का भी प्रकाश करता है। मैं घट को जानता हूँ – 'घटज्ञानवानहम्' इस प्रकार ज्ञान घट विषय का अपना और अपने आश्रय ज्ञाता आत्मा का प्रकाश करता है। वह अपने आश्रय आत्मा के लिए विषय का तथा अपना प्रकाश करता है। धर्मभूतज्ञान ही विषयों को प्रकाशित करता है, अन्य कोई नहीं क्योंकि दीपक होने पर भी ज्ञान के विना विषयों का प्रकाश नहीं होता है। इन्द्रियाँ ज्ञान की उत्पत्ति में साधन हैं किन्तु उनसे विषय का प्रकाश नहीं होता। ज्ञान इन्द्रियसम्बन्ध आदि सहायक सामग्री होने पर ही विषय का प्रकाश करता है, इनके न होने पर प्रकाश नहीं करता है। साधना करने पर ज्ञान परमात्मा को भी प्रकाशित करता है।

शंका–

आत्मा को ज्ञान स्वरूप ही मानना चाहिए, ज्ञान का अधिकरण नहीं।

समाधान–

यदि आत्मा केवल ज्ञानस्वरूप होती, ज्ञान का आधार नहीं होती तो 'मैं ज्ञान हूँ' ऐसा ही अनुभव होना चाहिए। 'मैं जानता हूँ' ऐसा अनुभव नहीं होना चाहिए किन्तु 'मैं घट ज्ञानवाला हूँ', 'मैं पट ज्ञान वाला हूँ' ऐसा भी अनुभव होता है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा केवल ज्ञानस्वरूप नहीं है, वह ज्ञानस्वरूप के साथ ज्ञाता भी है।

नैयायिक आत्मा को ज्ञान का अधिकरण मानते हैं, ज्ञानस्वरूप नहीं मानते। शांकर वेदान्ती आत्मा को ज्ञानस्वरूप मानते हैं, ज्ञान का अधि करण नहीं मानते किन्तु सविशेषाद्वैत (विशिष्टाद्वैत) वेदान्ती श्रुतियों के अनुसार आत्मा को ज्ञानस्वरूप तथा ज्ञान का अधिकरण दोनों ही मानते हैं। जो यह जानता है कि मैं इसे सूँघूँ, वह आत्मा है– **अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा** (छां.उ.8.12.4)। जिस परमात्मा से अनुगृहीत हुआ आत्मा सबको जानता है – **येनेदं सर्वं विजानाति** (बृ.उ.2.4.14) ब्रह्मदर्शी सबको जानता है – **सर्वं ह पश्यः पश्यति** (छां.उ.7.26.2) इत्यादि श्रुतियाँ आत्मा को ज्ञाता कहती हैं। जो परमात्मा ज्ञानरूप आत्मा में रहता

हुआ - **यो विज्ञाने तिष्ठन्** (बृ.उ.3.7.26) इत्यादि श्रुतियाँ आत्मा को ज्ञानरूप कहती हैं। यह रूप का ज्ञाता, स्पर्श का ज्ञाता, शब्द का ज्ञाता, गन्ध का ज्ञाता, रस का ज्ञाता, मनन का आश्रय, ज्ञान का आश्रय, कर्ता तथा ज्ञानरूप आत्मा है - **एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः** (प्र.उ.4.9)। यह श्रुति आत्मा को ज्ञाता तथा ज्ञानरूप दोनों कहती है। इसमें विज्ञानात्मा पद से आत्मा को ज्ञानरूप कहा जाता है। बोद्धा पद से आत्मा को सामान्यरूप से ज्ञाता कहा जाता है और द्रष्टा आदि पदों से विशेषरूप से ज्ञाता कहा जाता है। ज्ञाता के धर्मभूत ज्ञान का लोप नहीं होता है - **न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते।** (बृ.उ.4.3.30) इत्यादि श्रुतियाँ धर्मभूतज्ञान को स्वाभाविक कहती हैं। ज्ञान के स्वाभाविक होने से आत्मा का ज्ञानाश्रयत्व रूप ज्ञातृत्व भी स्वाभाविक ही है, औपाधिक (कल्पित) नहीं।

*विशिष्टाद्वैत वेदान्त सिद्धान्त में आत्मा को जैसे ज्ञाता माना जाता है, वैसे ही कर्ता, भोक्ता भी माना जाता है किन्तु पूर्व में **आत्मस्वरूपम् .... निर्विकारं ज्ञानाश्रयभूतम्**। इस प्रकार आत्मा को ज्ञानाश्रयभूत अर्थात् ज्ञाता कहा है कर्ता, भोक्ता नहीं कहा इसलिए उक्त कथन अपूर्ण है, ऐसी शंका होने पर कहते हैं -*

17. ज्ञातेत्युक्त्यैव कर्ता भोक्ता चेत्युक्तो भवति। कर्तृत्व-भोक्तृत्वयोर्ज्ञानावस्थाविशेषत्वात्।

अर्थ-

आत्मा ज्ञाता (ज्ञानाश्रय) है, इस कथन से ही (आत्मा) कर्ता है और भोक्ता है, यह भी कहा हुआ हो जाता है क्योंकि कर्तृत्व और भोक्तृत्व ज्ञान की अवस्थाविशेष हैं।

व्याख्या -

प्रसंगवश सुखादि को समझाते है-

सुख- अनुकूलरूप से ज्ञात होने वाला ज्ञान ही सुख कहलाता है।

दुःख- प्रतिकूलरूप से ज्ञात होने वाला ज्ञान ही दुःख कहलाता है।

काम- अनुकूल विषय को प्राप्त करने की इच्छा ही काम कही जाती है।

इच्छा- अपेक्षात्मक ज्ञान ही इच्छा कहा जाता है। इसी प्रकार कृति (प्रयत्न) भी अवस्थाविशेष को प्राप्त किया हुआ ज्ञान ही है।

कर्तृत्व- कृति का आश्रय होना कर्तृत्व है - कृतिमत्त्वं कर्तृत्वम्। कृति शब्द से मतुप् प्रत्यय करने पर कृतिमत् तथा इससे भाव[1] में त्व प्रत्यय करने पर 'कृतिमत्त्वं' शब्द बनता है। कृतिमत् का अर्थ है - कृति का आश्रय। कृति का आश्रय आत्मा होती है। कृतिमत्त्व का अर्थ है - कृति के आश्रय आत्मा में रहने वाला। कृति के आश्रय आत्मा में कृति रहती है। इस प्रकार कृतिमत्त्व का अर्थ है - कृति अर्थात् कृति ही कर्तृत्व है और इसका आश्रय होने से आत्मा को कर्ता कहते हैं। कर्तृत्व ज्ञान की अवस्थाविशेष है इसलिए आत्मा को ज्ञाता कहने पर कर्ता का भी कथन हो जाता है।

भोक्तृत्व- भोग का आश्रय होना भोक्तृत्व है - **भोगवत्त्वं भोक्तृत्वम्।** सुख-दुःख का साक्षात्कार ही भोग है। सुख, दुःख ज्ञानरूप ही हैं अतः स्वयंप्रकाश हैं। ज्ञानरूप सुखदुःख का प्रकाश (साक्षात्कार) उनका स्वरूप ही है अतः सुख-दुःख ही भोग है और इनका आश्रय आत्मा भोक्ता होती है। उसमें रहने वाला भोक्तृत्व (भोग) ज्ञान की अवस्थाविशेष है। इस प्रकार आत्मा को ज्ञाता कहने पर उसके कर्ता, भोक्ता होने का भी कथन हो जाता है।

श्रीसुदर्शन सूरि ने कहा है कि प्रकाशित होने वाली वस्तु जिसके लिए प्रकाशित होती है, उसे ज्ञाता कहते हैं - **भासमानं वस्तु यस्मै भाति, स हि ज्ञाता।** (श्रु.प्र.2.3.19) घटादि पदार्थ ज्ञान से प्रकाशित होते हैं और ज्ञान स्वयं प्रकाशित होता है। इस प्रकार विषय और ज्ञान ये दोनों ही प्रकशित होते हैं। ज्ञान से घटादि विषय आत्मा के लिए प्रकाशित होते हैं इसलिए आत्मा उनका ज्ञाता होती है। उनको विषय

....

टिप्पणी - 1. प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारो भावः।

करने वाला ज्ञान भी आत्मा के लिए प्रकाशित होता है इसलिए ज्ञान का भी ज्ञाता (अनुभविता) आत्मा होती है।

ज्ञानविशेषरूप सुखादि[1] आत्मा के लिए प्रकाशित होते हैं। आत्मा के लिए इनका स्वरूपभूत प्रकाश ही भोग है। यह प्रकाश (ज्ञान) रूप भोग आत्मा के लिए होने से आत्मा भोक्ता कहलाती है।

18.केचित्तु गुणानामेव कर्तृत्वं नात्मनः इत्याहुः तन्न, तदाऽस्य शास्त्रवश्यत्वं भोक्तृत्वं च न स्यात्।

अर्थ-

कुछ विद्वान् तो 'गुणों का ही कर्तृत्व है आत्मा का नहीं।' ऐसा कहते हैं, वह उचित नहीं है क्योंकि वैसा मानने पर इस (आत्मा) का शास्त्रवश्यत्व और भोक्तृत्व संभव नहीं होगा।

व्याख्या-

सांख्यमत-

गुणों का कर्तृत्व- सांख्य विद्वानों के अनुसार त्रिगुण ही प्रकृति का स्वरूप है। वही कर्ता है, इसे सूचित करने के लिए ग्रन्थकार ने गुणानामेव कर्तृत्वम् ऐसा निर्देश किया है। सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण हैं। त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही सब कुछ करती है। उस अचेतन त्रिगुणात्मिका प्रकृति का ही कर्तृत्व है, आत्मा निर्विकार है, निर्धर्मक है, उसका कर्तृत्व नहीं हो सकता है।

त्रिगुणात्मिका प्रकृति से त्रिगुणात्मिका बुद्धि (महत्) उत्पन्न होती है। जैसे मिट्टी से उत्पन्न घट को मिट्टी कहा जाता है, वैसे ही प्रकृति से उत्पन्न बुद्धि को भी प्रकृति कहा जाता है। कर्तृत्व बुद्धि का स्वाभाविक धर्म है, आत्मा का नहीं। जैसे - स्फटिक स्वच्छ होती है किन्तु वह

....

टिप्पणी -1. सुखादि ज्ञानविशेष हैं, ज्ञान स्वयं प्रकाश है, इसलिए सुखादि का प्रकाश सुखादि का स्वरूप ही है।

जपाकुसुम (गुडहलका पुष्प) उपाधि के निकट विद्यमान होने से रक्त प्रतीत होती है, वैसे ही कर्तृत्वादि से रहित आत्मा है किन्तु वह बुद्धि उपाधि के सन्निहित होने पर कर्ता प्रतीत होती है। जैसे स्फटिक में लाल रंग औपाधिक (कल्पित या आरोपित) है, वैसे ही आत्मा में कर्तृत्व औपाधिक है।

वेदान्तमत–

आत्मा का कर्तृत्व–

वेदान्त विद्वान् तो **प्रकृतेः गुणसम्मूढाः**(गी. 3.29) इत्यादि प्रमाणों के अनुसार 'प्रकृति के आश्रित रहने वाले सत्त्वादिगुण हैं, उनका आश्रय प्रकृति है, गुण प्रकृति के स्वरूप नहीं हैं।' ऐसा मानते हैं। जड पदार्थ का कर्तृत्व नहीं हो सकता है, वह आत्मा का ही धर्म है। जपाकुसुम में पहले से लाल रंग विद्यमान है। वही स्फटिक में भासता है इसलिए स्फटिक का लाल रंग औपाधिक माना जाता है किन्तु बुद्धि जड़ होने से उसमें कर्तृत्व है ही नहीं, तो उसके सम्बन्ध से आत्मा में भी कर्तृत्व नहीं हो सकता है। चेतन आत्मा के सम्बन्ध के विना बुद्धि में कर्तृत्व स्वीकार करने पर आत्मा को स्वीकार करने की आवश्यकता ही नहीं है और ऐसा होने पर चार्वाक मत की विजय होगी क्योंकि वह जड़ पदार्थ का कर्तृत्व स्वीकार करता है। इन दोषों के कारण आत्मा का ही स्वाभाविक कर्तृत्व स्वीकार करना चाहिए।

शंका–

जिस प्रकार केवल लेखनी लेखक (लेख का कर्ता) नहीं होती है, केवल देवदत्त लेखक नहीं होता है अपितु लेखनीविशिष्ट देवदत्त लेखक होता है। उसी प्रकार केवल बुद्धि कर्ता नहीं है, केवल आत्मा कर्ता नहीं है अपितु बुद्धिविशिष्ट आत्मा कर्ता है।

समाधान–

यह कहना उचित नहीं है क्योंकि विचार करने पर करणत्व लेखनी में तथा कर्तृत्व देवदत्त में ज्ञात होता है उसी प्रकार करणत्व बुद्धि में तथा कर्तृत्व आत्मा में ज्ञात होता है। अतः इस दृष्टान्त के द्वारा भी

आत्मा में कर्तृत्व का निषेध नहीं हो सकता है।

शंका-

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते। पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते (गी.13.20) इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता में प्रकृति को कर्ता और आत्मा को भोक्ता कहा गया है तो आप आत्मा को कर्ता कैसे स्वीकार करते हैं?

समाधान-

गीता के उक्त श्लोक में ही आत्मा को भोक्ता कहा गया है, कर्ता फल का भोक्ता होता है। शास्त्र में कहे गये स्वर्गादि फल कर्म के कर्ता को प्राप्त होते हैं - **शास्त्रफलं प्रयोक्तरि** (मी.सू.3.7.18) यह नियम है इसलिए आत्मा को भोक्ता कहे जाने से उसे ही कर्ता स्वीकार करना चाहिए। श्लोक में प्रकृति को कर्ता कहे जाने से प्रकृति को ही कर्ता स्वीकार करना चाहिए, ऐसी शंका करना व्यर्थ है क्योंकि वैसा श्लोक का अर्थ नहीं है। श्लोक का अर्थ इस प्रकार है - **कार्यकारणकर्तृत्वे**[1] = देह और इन्द्रियों को क्रिया का उत्पादक होने में अर्थात् देह-इन्द्रिय से सम्पन्न होने वाली क्रियाओं में **प्रकृति** = देहेन्द्रियरूप में परिणत प्रकृति हेतु है। देहेन्द्रिय के विना उनसे सम्पन्न होने वाली क्रियाएं नहीं हो सकती हैं, अतः उन क्रियाओं का हेतु देहेन्द्रिय को कहा गया है, इससे आत्मा के धर्म कृत्याश्रयत्वरूप कर्तृत्व का निषेध नहीं होता है।

शास्त्र प्रवर्तक होता है। **स्वर्गकामो यजेत। आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।** (बृ.उ.2.4.5) इत्यादि शास्त्र अपने अर्थ का बोध कराकर अभीष्ट फल के साधन में मनुष्य की प्रवृत्ति के जनक होते हैं। फल का इच्छुक ही उसके साधन कर्म को करता है। इससे फल का भोक्ता ही कर्ता सिद्ध होता है इसलिए निषिद्ध कर्मों के

....

टिप्पणी - 1. क्रियोत्पादकत्वं कर्तृत्वम्, क्रियाश्रयत्वं वा।

फल अनिष्ट नरकादि से बचने के लिए तथा विहित कर्मों के अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिए मनुष्य शास्त्रवश्य = शास्त्र के अधीन रहने वाला अर्थात् शास्त्र के अनुसार आचरण करने वाला होता है। यदि गुणों को ही कर्ता माना जाय तो आत्मा (मनुष्यदेहधारी आत्मा) का शास्त्रवश्यत्व = शास्त्र के अधीन रहना सिद्ध नहीं होता है क्योंकि बुद्धि जड़ है, इसलिए शास्त्र उसे बोध नहीं करा सकते हैं। शास्त्र से जिसे बोध होता है, वही फल के साधन में प्रवृत्त हो सकता है। मनुष्य शास्त्रवश्य है, उससे भिन्न पशु, पक्षी, कीट आदि शास्त्रवश्य नहीं हैं। सुखदु:ख का भोक्तृत्व आत्मा में ही प्रसिद्ध है, वह तभी संभव है, जब आत्मा का कर्तृत्व हो। यदि आत्मा का कर्तृत्व न स्वीकार किया जाए, बुद्धि का कर्तृत्व स्वीकार किया जाए तो आत्मा का भोक्तृत्व भी संभव नहीं होगा, अतः आत्मा के शास्त्रवश्यत्व और भोक्तृत्व की सिद्धि के लिए उसका कर्तृत्व स्वीकार करना चाहिए।

19.सासांरिकप्रवृत्तिषु कर्तृत्वं न स्वरूपप्रयुक्तम् अपितु गुणसंसर्गकृतम्। कर्तृत्वं चेश्वराधीनम्।

अर्थ–

पुण्य–पाप के जनक सांसरिक कर्म करने में आत्मा का कर्तृत्व उसके (आत्म) स्वरूप के कारण नहीं है अपितु गुणों के संसर्ग के कारण है और (आत्मा का) कर्तृत्व ईश्वर के अधीन है।

व्याख्या–

गुणसंसर्गकृत सासांरिक कर्मों में आत्मा का कर्तृत्व–

अनादि पुण्यपापात्मक कर्मों के कारण जीव का गुणों (गुणमयी प्रकृति के कार्य देहेन्द्रिय) से संसर्ग होता है। इससे मिथ्या ज्ञान (1. देह को आत्मा समझना, 2. जो पदार्थ अपना नहीं है उसे अपना समझना और 3. ब्रह्मात्मक अर्थात् ब्रह्म से नियाम्य पदार्थ को स्वतन्त्र समझना) होता है। मिथ्या ज्ञान होने पर आत्मा मोक्ष के साधन में प्रवृत्त न होकर पुण्यपाप के जनक सांसारिक कर्मों में प्रवृत्त होती है। इससे पुनः गुणों के साथ संसर्ग होता है। इस प्रकार संसार चक्र चलता रहता है। सांसारिक

कर्मों के करने में आत्मा का कर्तृत्व स्वरूपतः नहीं है, वह तो पूर्वकर्ममूलक गुणों के संसर्ग के कारण है- **सांसारिकप्रवृत्तिषु जीवस्य कर्तृत्वं सत्त्वादिगुणसंसर्गकृतम् न स्वरूपप्रयुक्तम्** (ब्र.सू.आ.भा.2.3.34)। उनको करने में गुणों का संसर्ग निमित्त (उपाधि) है। मुक्तावस्था में उपाधि के न रहने से औपाधिक कर्मों का कर्तृत्व नहीं रहता है। ब्रह्मानुभव के प्रति आत्मा का जो स्वाभाविक कर्तृत्व है, वह कभी भी निवृत नहीं होता। कर्मरूप अज्ञान बद्धावस्था में ब्रह्मानुभव का प्रतिबन्धक होता है। ब्रह्मसाक्षात्कार से इसकी निवृत्ति होने पर सदा ब्रह्मानुभव होता रहता है। जब द्रष्टा गुणों से भिन्न कर्ता को नहीं देखता है अर्थात् सत्त्वादि गुणों की उत्कर्षता के अनुसार होने वाले भिन्न भिन्न प्रकार के कर्मों में उन गुणों को ही कर्ता देखता है तथा गुणों से पर अकर्ता आत्मा को जानता है, वह मेरे साधर्म्य को प्राप्त होता है - **नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति। गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥** (गी.14.19) कहने का अभिप्राय यह है कि स्वतः परिशुद्ध स्वभाववाली आत्मा का विविध कर्मों में कर्तृत्व पूर्व पूर्वकर्ममूलक गुणों के संसर्ग के कारण है, स्वतः नहीं है।

ईश्वराधीन कर्तृत्व-

आत्मा का कर्तृत्व ईश्वर के अधीन है, यह श्रुति से सिद्ध है - **परात्तु तच्छ्रुतेः** (ब्र.सू.2.3.40)। ईश्वर सभी आत्माओं के अन्दर प्रवेश करके उन पर शासन करता है - **अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा** (तै.आ.3.11.3)। ईश्वर आत्मा के अन्दर रहकर उसका नियमन करता है - **य आत्मानम् अन्तरो यमयति** (बृ.उ.मा.पा.3.7.26)। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा कर्ता[1] अर्थात् करने वाला है और ईश्वर कारयिता अर्थात् कराने वाले हैं। **जीवस्य कर्तृत्वं परमात्मायत्तम्** (बृ.उ.र.भा.4.3.7)।

20.ज्ञानाश्रयत्वे शास्त्रेषु ज्ञानमिति निर्देशोऽस्य कुतः? इति चेत्

....

टिप्पणी - 1. आत्मा के कर्तृत्व, भोक्तृत्व और ज्ञातृत्व को विस्तार से समझने के लिए विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन ग्रन्थ के जीवात्मविवेचन प्रकरण को पढना चाहिए।

ज्ञाननैरपेक्ष्येणापि स्वयमवभासत इति ज्ञानं सारभूतगुणतया निरूपकध र्मो भवतीति च तथा निर्देशः।

अर्थ–

आत्मा का ज्ञानाश्रयत्व होने पर शास्त्रों में (आत्मा) ज्ञानस्वरूप है, इस प्रकार आत्मा का निर्देश कैसे किया जाता है? यदि ऐसा कहना चाहें तो इसका उत्तर है – दूसरे ज्ञान की अपेक्षा न करके भी (आत्मा) स्वयं प्रकाशित होता है और ज्ञान प्रधानगुण होने से (आत्मा का) निरूपक ध र्म होता है इसलिए आत्मा ज्ञानस्वरूप है, इस प्रकार उसका निर्देश किया जाता है।

व्याख्या–

शंका–

ऊपर आत्मा के ज्ञानाश्रय होने का विस्तार से प्रतिपादन किया गया। यदि वह ज्ञान का आश्रय है तो 'जो (परमात्मा) ज्ञानरूप आत्मा में रहते हुए'– **यो विज्ञाने तिष्ठन्** (बृ.उ.3.7.26), आत्मा ज्ञानरूप है – **विज्ञानात्मा पुरुषः।** (प्र.उ.4.9) इत्यादि शास्त्रों में आत्मा का ज्ञानरूप से निर्देश किस कारण किया जाता है?

समाधान–

1. आत्मा अपने प्रकाश के लिए दूसरे प्रकाश की अपेक्षा नहीं करती है, वह स्वयं प्रकाशित होती है, इसलिए शास्त्रों में 'आत्मा ज्ञानरूप है'। इस प्रकार उसका निर्देश किया जाता है।

2. किसी वस्तु के स्वरूप का निरूपण (प्रतिपादन) उसमें विद्यमान प्रधान, स्थायी धर्म के द्वारा होता है। जिस धर्म के द्वारा वस्तु के स्वरूप का निरूपण किया जाता है, उसे स्वरूपनिरूपक धर्म कहते हैं। प्रधान, स्थायी धर्म के द्वारा वस्तु के स्वरूप का निरूपण किया जाता है इसलिए प्रधान, स्थायी धर्म को स्वरूपनिरूपक धर्म कहते हैं। वह वस्तु में विद्यमान रहता है। जैसे गो के स्वरूप का

निरूपण गोत्व धर्म से किया जाता है अत: गो के स्वरूप का निरूपक गोत्व धर्म होता है। वैसे आत्मा के स्वरूप का निरूपण ज्ञान धर्म से किया जाता है अत: आत्मा के स्वरूप का निरूपक ज्ञान धर्म होता है। पूर्व मीमांसा के **आकृत्यधिकरणन्याय** (पू.मी.1.3.11) के अनुसार स्वरूप का निरूपण करने वाले धर्मबोधक शब्द धर्म का बोध कराते हुए धर्मी का भी बोध कराते हैं। जैसे - गोस्वरूप का निरूपक गोत्व धर्म है, इसका बोध क गो शब्द है। वह गोत्व धर्म का बोध कराते हुए उसके आश्रय धर्मी गो का भी बोध कराता है, वैसे ही ज्ञान शब्द ज्ञान धर्म का बोध कराते हुए उसके आश्रय आत्मा का भी बोध कराता है। इस प्रकार ज्ञान शब्द को ज्ञानाश्रय आत्मा का बोधक होने से उक्त श्रुति वाक्यों में आत्मा को ज्ञान कहा जाता है। इस विषय का महर्षि वेदव्यास ने **तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्** (ब्र.सू.2.3.29) इस सूत्र से वर्णन किया है। आत्मा का स्थायी धर्म ज्ञान है, इसलिए ज्ञान शब्द से आत्मा को कहने में कोई दोष नहीं है- **यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात्** (ब्र.सू.2.3.30) अत: यहाँ ज्ञान शब्द मुख्यवृत्ति से ही आत्मा को कहता है।

21.नियाम्यत्वं नाम ईश्वरबुद्ध्यधीनसर्वव्यापारवत्त्वम्।

अर्थ-

नियाम्य का लक्षण है- ईश्वर की इच्छा के अधीन सभी प्रकार की प्रवृत्ति वाला होना।

व्याख्या-

नियाम्यत्व-

सर्वात्मा भगवान् सभी आत्माओं के अन्दर रहकर शासन (नियमन) करता है - **अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा** (तै.आ.3.11.3)। जो आत्मा में रहते हुए आत्मा के अन्दर है, जिसे आत्मा नहीं जानती है, जिसका आत्मा शरीर है, जो आत्मा के अन्दर रहकर उसका नियमन करता है, वह निरूपाधिक भोग्य परमात्मा तुम्हारा अन्तर्यामी है - **य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद, यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो**

यमयति, स त आत्मान्तर्याम्यमृतः (बृ.उ.मा.पा.3.7.26)। इस प्रकार परमात्मा को नियमन करने वाला अर्थात् नियामक कहा जाता है और आत्मा को उसके द्वारा नियाम्य कहा जाता है। आत्मा मन से, वाणी से और शरीर से विविध प्रकार की प्रवृत्ति (कर्म) करती रहती है। उसकी ये सभी प्रवृतियाँ ईश्वर की इच्छा के अधीन हैं। ईश्वरेच्छा के विना वह कोई भी प्रवृत्ति नहीं कर सकती है। इस प्रकार ईश्वरेच्छा के अधीन होने वाली सभी प्रवृत्तियों वाला आत्मा नियाम्य है और ईश्वरबुद्ध्यधीनसर्वव्यापारवत्त्व उसका नियाम्यत्व है। जैसे - यह दृश्य शरीर नियाम्य है, आत्मा उसका नियामक है, वैसे ही शरीरभूत आत्मा नियाम्य है, उसका परमात्मा नियामक हैं । आत्मा की प्रवृत्तियाँ जिसकी इच्छा के अधीन होती हैं, वह परमात्मा नियामक होता है। जीवात्मा का स्वाभाविक नियामक परमात्मा है किन्तु जीवात्मा अपने शरीर का स्वाभाविक नियामक नहीं है, अनादि कर्मरूप अज्ञान से नियामक है।

22.धार्यत्वं नाम तत्स्वरूपसंकल्पव्यतिरेकप्रयुक्तस्वसत्ताव्यतिरेक-योग्यत्वम्।

अर्थ-

धार्य का लक्षण है - परमात्मा के स्वरूप और संकल्प के अभाव से होने वाला अपनी सत्ता के अभाव के योग्य होना।

व्याख्या-

धार्यत्व-

जो धारण करता है, उसे धारक कहते हैं। आत्मा शरीर को धारण करती है। यहाँ आत्मा धारक है और शरीर धार्य है। उसी प्रकार परमात्मा आत्मा को धारण करते हैं। यहाँ परमात्मा धारक है और आत्मा धार्य है। धार्य का लक्षण है- **तत्स्वरूपसंकल्पव्यतिरेकप्रयुक्तस्वसत्ता-व्यतिरेकयोग्यत्वम्**। लक्षण में तत् पद से धारक का ग्रहण होता है। परमात्मा के स्वरूप के अधीन आत्मा की सत्ता है क्योंकि आश्रित (अपृथक्सिद्ध विशेषण) की सत्ता आश्रय (विशेष्य) के स्वरूप के

अधीन होती है। यहाँ आश्रित है- आत्मा और आश्रय है- परमात्मा। आत्मा की सत्ता सदा रहने वाली है। यह सत्ता परमात्मा के संकल्प के भी अधीन है क्योंकि आत्मा की सत्ता सदा बनी रहे, ऐसा परमात्मा का अनादि संकल्प है। इस प्रकार परमात्मा के स्वरूप और संकल्प से आत्मा की सत्ता है। परमात्मा के स्वरूप के अभाव और उनके संकल्प के अभाव से होने वाला है - आत्मा की सत्ता का अभाव और उस अभाव के योग्य आत्मा। इस प्रकार **तत्स्वरूपसंकल्पव्यतिरेकप्रयुक्तस्वसत्ताव्यतिरेक-योग्यत्वरूप** धार्य के लक्षण का आत्मा में समन्वय होता है, इसलिए आत्मा धार्य होती है। परमात्मस्वरूप और उनके संकल्प से आत्मा धारण की जाती है। परमात्मा सबको धारण करने वाला सेतु है - **एष सेतुर्विधरणः** (बृ.उ.4.4.22)। इस परमात्मा में सभी प्राण, सभी लोक, सभी देवता, सभी भूत और ये सभी आत्माएं आश्रित (स्थित) हैं - **अस्मिन्नात्मनि सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि सर्व एत आत्मानः समर्पिताः।** (बृ.उ.2.5.15) इत्यादि वचन परमात्मा को धारक तथा अन्य सभी को धार्य कहते हैं। परमात्मा का धारकत्व स्वाभाविक है और आत्मा का धारकत्व स्वाभाविक नहीं है, वह अनादि कर्मरूप उपाधि के कारण है। परमात्मा के प्रति आत्मा का धार्यत्व स्वाभाविक है और आत्मा के प्रति उसके शरीर का धार्यत्व स्वाभाविक नहीं है। परमात्मा चेतन आत्मा और अचेतन प्रकृति सभी को धारण करते हैं। वे आत्मा को साक्षात् धारण करते हैं और अचेतन को साक्षात् तथा चेतन आत्मा के द्वारा भी धारण करते हैं।

23.शेषत्वं नाम चन्दनकुसुमताम्बूलादिवत्तस्य यथेष्टविनि-योगार्हत्वम्। इदं चात्मवस्तु गृहक्षेत्रपुत्रकलत्रादिवत् पृथक्स्थित्यादीनां योग्यं न भवति किन्तु शरीरवत्तदयोग्यं भवति।

अर्थ-

चन्दन, पुष्प और ताम्बूलादि के समान भगवान् की इच्छा के अनुसार उपयोग के योग्य होना आत्मा का शेषत्व है। यह आत्मा घर, खेत, पुत्र और पत्नी आदि के समान पृथक्स्थिति आदि के योग्य

नहीं होती है किन्तु शरीर के समान उसके अयोग्य होती है।

व्याख्या-

शेषत्व-

भोक्ता अपनी इच्छा के अनुसार जिसका उपभोग (उपयोग) कर सके, उस पदार्थ को शेष कहते हैं और उसके भाव (धर्म) को शेषत्व कहते हैं - **यथेष्टविनियोगार्हः शेषः, तस्य भावः शेषत्वम्**। दूसरे के उपयोग में आना ही शेष का स्वरूप है, उसका अपना कोई स्वार्थ नहीं होता है। भोक्ता अपनी इच्छा के अनुसार चन्दन का शिर में लेपन करे, पुष्प और वस्त्र को धारण करे, ताम्बूल का भक्षण करे। उपयोग में आने वाले इन चन्दनादि का कभी भी कोई स्वार्थ नहीं होता। इच्छानुसार उपयोग के योग्य - यथेच्छविनियोगार्ह होने से चन्दनादि शेष कहलाते हैं और इनका उपयोग करने वाला शेषी कहलाता है। जैसे - आत्मा के शेष चन्दनादि हैं और शरीर भी उसका शेष है। वैसे ही भगवान् का शेष आत्मा है, भगवान् जैसा चाहें, वैसा इसका उपयोग कर सकते हैं। इस प्रकार यथेच्छ उपयोग के योग्य होने से आत्मा शेष है और उपयोग करने वाले भगवान् शेषी हैं।

आत्मा का भगवान् के प्रति शेषत्व स्वाभाविक है, अतः आत्मा के रहते यह कभी नष्ट नहीं हो सकता है। आत्मा नित्य है, इसलिए उसका भगवच्छेषत्व धर्म भी नित्य है। संसार में जीवात्मा माता-पिता आदि का शेष बन कर रहता है किन्तु माता-पिता आदि के प्रति उसका शेषत्व स्वाभाविक नहीं है, बल्कि कर्मकृत है क्योंकि पूर्वकृत पुण्यपापरूप कर्मों के कारण ही वह अन्य का शेष बनकर रहता है। लोक में लोग वेतन देकर दूसरे को अपना नौकर (शेष) बना लेते हैं, वैसा यहाँ नहीं है क्योंकि भगवान् ने कुछ देकर आत्मा को शेष नहीं बनाया और आत्मा भी कुछ लेकर शेष नहीं बनी। आत्मा अपने स्वभाव से ही भगवान् का शेष है। जैसे वेतन न मिलने पर मनुष्य दूसरे की नौकरी छोड देता है, स्वतन्त्र हो जाता है। वैसा यहाँ नहीं है क्योंकि आत्माका शेषत्व स्वभाव से है इसलिए वह कभी भी शेषत्व को छोड़ नहीं सकती, कभी स्वतन्त्र भी नहीं हो सकती। जीव जब संसार में दूसरों का शेष बनकर रहता है, तब भी वह

भगवत्-शेषत्व से रहित नहीं हो सकता है। जैसे- शरीर आत्मा का शेष है, जब कोई व्यक्ति दूसरे की नौकरी करता है, तब उसकी इच्छा से ही उसका शरीर दूसरे की सेवा में लगता है, दूसरे की सेवा करते समय भी वह शरीर आत्मा के शेषत्व से छुटकारा नहीं पा सकता है, उस समय भी वह शरीर आत्मा का ही शेष होकर रहता है, वैसे ही दूसरों की सेवा करते समय आत्मा भगवत्- शेषत्व से छुटकारा नहीं पा सकती क्योंकि कर्मानुसार भगवदिच्छा से ही वह दूसरों की सेवा करती है, वह भगवान् का स्वाभाविक शेष होने के कारण दूसरों की सेवा करते समय भी भगवान् का शेष बनकर रहती है। परमात्मा चेतनाचेतन सभी पदार्थों के स्वाभाविक शेषी हैं और आत्मा अपने शरीर आदि का स्वाभाविक शेषी नहीं है। बद्धात्मा का अपने शरीर आदि के प्रति शेषित्व कर्म उपाधि के कारण है। आत्मा के शेष जो गृह, क्षेत्र, पुत्र और पत्नी आदि हैं। उनकी आत्मा से पृथक् स्थिति और पृथक् प्रतीति होती है, वे आत्मा से पृथक् स्थिति और पृथक् प्रतीति के योग्य हैं, उन गृहादि के समान परमात्मा से पृथक्स्थिति और पृथक्प्रतीति के योग्य आत्मा नहीं है किन्तु जैसे शरीर आत्मासे पृथक्स्थिति और पृथक्प्रतीति के अयोग्य है, वैसे ही आत्मा परमात्मा से पृथक्स्थिति और पृथक्प्रतीति के अयोग्य है। भगवान् सब के शेषी हैं- **पतिं विश्वस्य** (तै.ना.उ.92) लक्ष्मण जी कहते हैं कि हे रघुनाथ जी! आपके रहते मैं सैकड़ों वर्ष तक आपका शेष हूँ - **परवान[1]स्मि काकुत्स्थ त्वयि वर्षशतं स्थिते।** (वा.रा.3.15.7) ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा परमात्मा का शेष है - **ज्ञानानन्दमयस्त्वात्मा शेषो हि परमात्मनः।** (पां.सं.) इत्यादि प्रमाणों से परमात्मा का शेषित्व तथा आत्मा का शेषत्व सिद्ध होता है।

24.आत्मस्वरूपं च बद्धमुक्तनित्यभेदेन त्रिविधम्। संसारिणो बद्धा इत्युच्यन्ते। उच्छिन्नसंसारबन्धा मुक्ता इत्युच्यन्ते। कदाप्यनाघ्रातसंसारा शेषशेषाशनादयो नित्या इत्युच्यन्ते ।

अर्थ-

आत्मस्वरूप बद्ध, मुक्त और नित्य भेद से तीन प्रकार का होता है- संसारी आत्माएं बद्ध कही जाती हैं, जिन आत्माओं का

संसारबन्धन नष्ट हो गया है, वे मुक्त कहलाती हैं। कभी भी बन्धन में न आने वाले शेष (अनन्त), गरुड आदि नित्य कहे जाते हैं।

व्याख्या-

संसार (प्रकृति) से सम्बन्ध रखने वाली आत्माएं बद्ध कहलाती हैं। अनादि पुण्यपाप कर्मों के कारण आत्मा का देह से सम्बन्ध होता है और इससे देह को आत्मा समझना, जो वस्तु अपनी नहीं है, उसे अपना समझना तथा ब्रह्म के नियाम्य पदार्थों को स्वतन्त्र समझना ये मिथ्या ज्ञान उत्पन्न होते हैं। इससे आत्मा की मोक्ष के साधन में प्रवृत्ति नहीं होती बल्कि सांसारिक कर्मों में प्रवृत्ति होती है। पुण्यपाप के जनक उन कर्मों से पुनः देह के साथ सम्बन्ध होता है। इस प्रकार कर्मों के अनुसार बद्ध आत्माओं को विविध योनियाँ प्राप्त होती रहती हैं। समानगुण वाले, साथ रहने वाले पक्षी के समान आत्मा और परमात्मा वृक्ष के समान छेदन के योग्य एक शरीर में रहते हैं। उनमें आत्मा परिपक्व कर्मफल को भोगती है - **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति।** (ऋ.सं.2.3.17, मु.उ.3.1.1) इत्यादि वचनों से आत्मा की बद्धावस्था का वर्णन होता है।

मुक्त-

जो निर्मल अन्तःकरण वाली मुमुक्षु आत्माएं सदगुरुका समाश्रय प्राप्त करके उनके उपदेश से वेदान्तवेद्य परब्रह्म को जानकर उनकी प्राप्तिरूप मोक्ष की सिद्धि के लिए ब्रह्मविद्या के अङ्गरूप से स्ववर्णाश्रमानुकूल कर्म तथा अङ्गी ब्रह्मविद्या के अनुष्ठान से संसार के सम्बन्ध का विनाश करके अर्चिरादि मार्ग के द्वारा प्रकृतिमण्डल से पर त्रिपादविभूति पहुँचकर सतत ब्रह्मानुभव तथा उनकी सेवा में संलग्न रहती हैं, वे मुक्त कहलाती हैं। इनका पुनः संसार में बन्धन नहीं होता। यह आत्मा कर्मकृत शरीर से निकलकर अर्चिरादि से जाकर परब्रह्म को प्राप्तकर अपने रूप से आविर्भूत होती है - **एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य**

....

टिप्पणी - 1. परवान् शेषत्ववान् शेष इत्यर्थः।

स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते। (छां.उ.8.12.2) मुक्त सभी विशेषणों वाले परब्रह्म का अनुभव करता है - **सर्वं ह पश्यः पश्यति।** (छां.उ.7.26.2) इत्यादि श्रुतियाँ मुक्तात्माओं का वर्णन करती हैं।

नित्य-

जिन आत्माओं का संसार में बन्धन कभी नहीं होता है, वे नित्य कही जाती हैं। इनको ही नित्यसूरि भी कहते हैं, इनके ज्ञान का संकोच कभी भी नहीं होता है। ये सतत भगवद्दर्शन और उनकी सेवा में संलग्न रहते हैं। मुक्तात्मा मुक्तावस्था से पूर्व बद्ध रहता है, उत्तरकाल में नहीं किन्तु ये कभी भी बन्धन में नहीं रहते हैं। जहाँ साध्य नामक नित्यसूरि सदा रहते हैं - **यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः**(ऋ.सं.8.4.19)। विष्णु का वह परमस्थान है, सूरिगण उसका सदा दर्शन करते रहते हैं- **तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।** (तै.सं.1.3.6.2) इत्यादि श्रुतियाँ नित्यसूरियों के सद्भाव में प्रमाण हैं। शेष, गरुड, श्रीहनुमान्, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न तथा श्रीकृष्ण के अष्ट सखा आदि नित्यसूरि हैं।

25.जलस्याग्निसंसृष्टस्थालीसंसर्गेण यथौष्ण्यशब्दादयो जायन्ते। तथाऽऽत्मनोऽचित्सम्बन्धेनाऽविद्याकर्मवासनारुचयो जायन्ते। अचिन्निवृत्तौ अविद्यादयो निवर्तन्त इति वदन्ति।

अर्थ-

जिस प्रकार अग्नि से संयुक्त बटलोई के सम्बन्ध से जल की उष्णता और शब्दादि हो जाते हैं, उसी प्रकार अचेतन देह के सम्बन्ध से आत्मा में अविद्या कर्म, वासना और रुचि हो जाती हैं। अचेतन की निवृत्ति होने पर अविद्या आदि निवृत्त हो जाते हैं, ऐसा विद्वान् कहते हैं।

व्याख्या-

आत्मा के अविद्यादि दोष नैमित्तिक-

जल स्वभाव से शीतल है, उसमें उष्णता नहीं है, दाहकत्व नहीं है किन्तु जब अग्नि से संयुक्त पात्र में जल भरा होता है, तब जल उष्ण हो

जाता है और दाहक हो जाता है। जल उष्ण होते समय शब्द भी सुनायी देता है। यहाँ अग्नि से संयुक्त स्थाली निमित्त (उपाधि) है, उस के संसर्ग से जल की उष्णता, शब्द और दाहकत्व हो जाते हैं। जल की उष्णता आदि धर्म नैमित्तिक (औपाधिक) हैं, स्वाभाविक नहीं। वैसे ही स्वभाव से आत्मा की अविद्या, कर्म वासना और रुचि दोष नहीं हैं किन्तु अचित् देह निमित्त के होने पर आत्मा की अविद्या, कर्म वासना और रुचि हो जाती हैं। आत्मा अनादिकाल से संसार में आध्यात्मिक आदि तापत्रय को भोगती आयी है। आत्मा का यह संसार अनादि है क्योंकि आत्मा अनादि काल से परमात्मा की आराधना न करके विविध प्रकार के शुभ-अशुभ कर्म करती रही है, उनके फल का भोग कराने के लिए भगवान् ने अचेतन प्रकृति के साथ संबन्ध कराया। देह, इन्द्रिय, मन और प्राण के रूप में परिणत अचेतन प्रकृतिरूप निमित्त के साथ आत्मा का सम्बन्ध होने से आत्मा के अविद्या आदि दोष हो गये। अज्ञान, विपरीत ज्ञान और अन्यथा ज्ञान इन तीनों को अविद्या कहा जाता है। अज्ञान का अर्थ है- ज्ञानाभाव अर्थात् अचेतन के साथ सम्बन्ध होने से आत्मज्ञान और परमात्मज्ञान नहीं होते हैं अपितु विपरीत ज्ञान और अन्यथा ज्ञान होते हैं। देहात्मबुद्धि विपरीत ज्ञान है, ब्रह्मात्मक[1] (ब्रह्म का शरीरभूत) अपने आत्मस्वरूप को स्वतन्त्र समझना अन्यथा ज्ञान है और जो वस्तु अपनी नहीं है, उसमें अपनत्व बुद्धि भी अन्यथा ज्ञान है। अविद्या के कारण ही जीवात्मा मोक्षसाधन का अनुष्ठान न करके अपने शरीर और सम्बन्धियों की सुविधा के लिए विविध कर्मों को करता रहता है। इन कर्मों से वासना उत्पन्न होती है और वासना से विषयों में रुचि तथा पूर्व कर्म के सजातीय कर्म को करने में रुचि होती है। उस रुचि के कारण आगामी जन्म अर्थात् अचेतन देह के साथ सम्बन्ध हो जाता है। उससे पुनः अविद्या, कर्म वासना और रुचि होती हैं। फिर अचेतन के साथ सम्बन्ध होकर पुनः पुनः अविद्या आदि होते रहते हैं। इस प्रकार अचित् प्रकृति के साथ सम्बन्ध, अविद्या, कर्म, वासना और रुचि इनका प्रवाह चलता रहता है। यह अनादि है। जिस प्रकार गङ्गा आदि नदियों में एक प्रवाह के बाद दूसरा प्रवाह चलता रहता है, प्रवाह का विच्छेद नहीं होता, उसी प्रकार यहाँ भी अचित् के साथ सम्बन्ध, अविद्या, कर्म, वासना और रुचियों का प्रवाह अविच्छिन्न रूप से अनादि काल से

चला आ रहा है। अविद्या आदि दोष कब समाप्त होते हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं - अचेतन देह के साथ आत्मा का सम्बन्ध समाप्त होने पर दोष समाप्त हो जाते हैं। देह के साथ सम्बन्ध ही इन दोषों का मूल है। ब्रह्मविद्या की निष्पत्ति से ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर जब आत्मा का शरीर से सम्बन्ध निवृत्त हो जाता है, तब अविद्यादि भी निवृत्त हो जाते हैं। निमित्त (कारण) की निवृत्ति होने पर नैमित्तिक (कार्य) भी निवृत्त हो जाते हैं।

26.त्रिविधं चैतदात्मस्वरूपं पृथक् पृथगनन्तम्।

अर्थ-

तीन प्रकार वाला यह आत्मस्वरूप पृथक् पृथक् अनन्त है।

व्याख्या-

ऊपर बद्ध, मुक्त और नित्य ये तीन आत्मस्वरूप के प्रकार कहे गये। उनमें प्रत्येक अनन्त है अर्थात् बद्ध असंख्य हैं, मुक्त असंख्य हैं और नित्य भी अंसख्य हैं।

ऊपर आत्माएं अनन्त कही गयीं, उस कथन से सहमत न होने वाले विद्वानों का मत कहा जाता है-

27.एक एवात्मा न बहव इति केचित्। तथा सति कस्मिंश्चित् सुखमनुभवति तदानीमेवान्यस्य दुःखानुभवो नोपपद्येत देहभेदादिति चेत् सौभरिशरीरेऽप्येवं स्यात्। कस्यचित् संसरणं कस्यचिद् मुक्तिः कस्यचिच्छिष्यत्वं कस्यचिदाचार्यत्वं च न संघटेत। विषमसृष्टिरपि नोपपद्येत। आत्मभेदप्रतिपादकश्रुतिविरोधश्च।

अर्थ-

एक ही आत्मा है, अनेक नहीं, ऐसा निर्विशेषाद्वैत वेदान्ती कहते

....

टिप्पणी - 1. ब्रह्म आत्मा नियन्ता यस्य स ब्रह्मात्मकः।

हैं। (इस पर सविशेषाद्वैत वेदान्ती कहते हैं कि) वैसा स्वीकार करने पर एक के सुखानुभव करने पर उस समय ही दूसरे का दुःखानुभव नहीं होना चाहिए। वह देह-उपाधि के भेद से होता है (यदि ऐसा निर्विशेषाद्वैती मतानुयायी कहना चाहें तो इस पर सविशेषाद्वैती विद्वान् कहते हैं कि) सौभरि योगी के अनेक शरीर होने पर (उन्हें) भी सुख और दुःख दोनों का अनुभव होना चाहिए (केवल इतना ही नहीं और भी दोष सुनिए) किसी का बन्धन-किसी की मुक्ति तथा किसी का शिष्यत्व-किसी का आचार्यत्व संभव नहीं होगा। विषमसृष्टि भी संभव नहीं होगी और आत्मा के भेद का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों से विरोध होगा।

व्याख्या-

निर्विशेषाद्वैत मत-

एक आत्मवाद-आत्मा एक ही है, भिन्न आत्माएं नहीं हैं, अतः उनका भेद स्वीकार नहीं करना चाहिए।

सविशेषाद्वैत मत-

अनेक आत्मवाद- आत्मा एक नहीं है क्योंकि वैसा स्वीकार करने पर एक को सुख का अनुभव करने पर उसी काल में दूसरे को दुःख का अनुभव नहीं करना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता है, इससे सिद्ध होता है कि सुख का अनुभव करने वाली आत्मा और उसी काल में दुःख का अनुभव करने वाली आत्मा भिन्न है, वह एक नहीं है। एक ही आत्मा भिन्न काल में सुख और दुःख दोनों का अनुभव कर सकती है, एक ही काल में नहीं।

निर्विशेषाद्वैत मत-

देह उपाधि के भेद से एक के सुखानुभव काल में दूसरे को दुःखानुभव होता है अर्थात् एक ही आत्मा के भिन्न भिन्न देह होने के कारण वह जिस काल में किसी एक देह से सुख का अनुभव करती है, उसी काल में अन्य देह से दुःख का अनुभव करती है। अतः आत्मा एक ही है, उसका भेद स्वीकार करना उचित नहीं है।

सविशेषाद्वैत मत-

योगी सौभरि ऋषि ने योगबल से सुखानुभव के लिए अनेक देह धारण करके उन सभी देहों से एक साथ सुख का अनुभव किया था। एक आत्मा एक देह से जिस काल में सुख का अनुभव करती है। यदि वही आत्मा उसी काल में अन्य देह से दुःख का अनुभव करे तो सौभरि का एक शरीर से सुख का अनुभव और उसी समय दूसरे शरीर से दुःख का अनुभव होना चाहिए था किन्तु ऐसा नहीं हुआ बल्कि उन्होंने सभी शरीरों से सुख का ही अनुभव किया, इससे सिद्ध होता है कि देह भेद के कारण एक ही आत्मा को सुखानुभव और दुःखानुभव एक साथ होते हों ऐसी बात नहीं है, बल्कि भिन्न - भिन्न शरीरों में रहकर सुखानुभव कालमें दुःखानुभव करने वाली आत्माएं भिन्न हैं। 'नाना शरीरों में एक ही आत्मा है'। ऐसा स्वीकार करने पर जैसे सौभरि आदि योगी अनेक शरीरों को धारण करके उन सभी से विषयानुभव करते हैं इसलिए वे ऐसा समझते हैं कि मैं ही सभी शरीरों से विषयानुभव करता हूँ। वैसे ही अनेक शरीरों में एक आत्मा स्वीकार करने पर ऐसा समझना चाहिए कि मैं ही सभी शरीरों से विषयानुभव करता हूँ तथा एक शरीर में विद्यमान आत्मा को किसी विषय का अनुभव होने पर अन्य (अन्य शरीर मे विद्यमान उसी आत्मा) को उसका स्मरण होना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता है। इससे सिद्ध होता है कि देहभेद से आत्मा का भेद नहीं है, उनका भेद स्वाभाविक है। कोई मुमुक्षु ब्रह्मविद्या के अनुष्ठान से मुक्त हो जाता है। शुकदेव और वामदेव आदि ज्ञानी महापुरुष मुक्त हो गये - **शुको मुक्तः वामदेवो मुक्तः** ऐसा शास्त्रों में सुना जाता है तथा बुभुक्षु सांसारिक कर्म करके बन्धन में पड़ा रहता है, इस प्रकार बन्धन और मोक्ष की व्यवस्था एक आत्मा को स्वीकार करने वाले पक्ष में नहीं होती है। इस पक्ष में एक काल में एक ही आत्मा के बन्धन और मोक्ष दोनों की प्राप्ति का प्रसंग होता है, जो कि उचित नहीं है। मुमुक्षु शिष्य त्रिताप से व्यथित होकर ज्ञान प्राप्ति के लिए गुरु की शरण में जाता है और श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ आचार्य उस शिष्य को उपदेश देते हैं। इस प्रकार एक आत्मवाद मत में शिष्य और आचार्य की व्यवस्था भी सम्भव नहीं होती। 'कोई सुखी है, कोई दुःखी है। किसी का मनुष्य शरीर से सम्बन्ध है, किसी का पशु शरीर से, कोई जन्म से स्वस्थ

है, कोई जन्म से रोगी' इस प्रकार की विषमसृष्टि भी एकात्मवाद में सम्भव नहीं। आत्मा का भेद स्वीकार करने पर वह व्यवस्था सम्भव हो जाती है क्योंकि भिन्न भिन्न आत्माओं के भिन्न भिन्न प्रकार के कर्मों से उनका भिन्न भिन्न शरीरों से सम्बन्ध, आरोग्य-रोग एवं सुख-दुःख आदि होते हैं। प्रत्येक शरीर में रहने वाली आत्मा भिन्न है, सौभरि आदि योगी इस विषय के अपवाद हैं क्योंकि योगबल से एक ही आत्मा अनेक देहों को धारण करती है। सामान्यतः प्रत्येक शरीर में भिन्न भिन्न आत्माएं रहती हैं। जो नित्यों में नित्य है, चेतनों में चेतन है, वह एक परमात्मा बहुत आत्माओं को अभीष्ट पदार्थ प्रदान करता है- **नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।** (क.उ.2.2.13, श्वे. उ.6.13) इस श्रुति में नित्यः, चेतनः और एकः ये एकवचनान्त पद परमात्मा के बोधक हैं तथा नित्यानाम्, चेतनानाम् और बहूनाम् ये बहुवचनान्त पद जीवात्मा के बोधक हैं। चेतनानाम् (जीवानाम्) के विशेषण नित्यानां और बहूनाम् हैं। यह श्रुति आत्माओं के परस्पर भेद (अनेकत्व) का प्रतिपादन करती है तथा आत्मा और परमात्मा के भी भेद का प्रतिपादन करती है। परमात्मा के एक भाग सम्पूर्ण प्राणी हैं - **पादोऽस्य विश्वा भूतानि।** (तै.आ.3.12.3) इस मन्त्र में विश्वा भूतानि इस प्रकार बहुवचनान्त पदों के प्रयोग से आत्माएं अनेक सिद्ध होती हैं। एक आत्मा स्वीकार करने पर आत्मा के भेद (अनेकत्व) का प्रतिपादन करने वाली उक्त श्रुतियों से भी विरोध होता है।

28.श्रुतिरौपाधिकं भेदं प्रतिपादयतीति चेन्न, मोक्षदशायाम् अपि भेदसद्भावात्। तदा देवमनुष्यादिभेदानां कामक्रोधादि भेदानां च नाशे सति आत्मस्वरूपाणाम् अत्यन्तसमतया केनापि प्रकारेण भेदप्रतिपादनाऽसम्भवेऽपि परिमाणेन प्रकारेणाकारेण च समानानां स्वर्णकुम्भानां रत्नानां व्रीह्यादीनां च परस्परभेदवत् स्वरूपभेदोऽपि सिद्धः तस्मादात्मभेदोऽङ्गीकार्यः।

अर्थ-

श्रुति औपाधिक भेद का प्रतिपादन करती है, यदि ऐसा कहना चाहें

तो उचित नहीं क्योंकि मोक्ष दशा में भी भेद रहता है। तब देवत्व, मनुष्यत्व आदि भेदों का तथा काम, क्रोधादि भेदों का नाश होने पर आत्माओं की अत्यन्त समता होने के कारण किसी भी प्रकार (आत्माओं के) भेद का प्रतिपादन सम्भव न होने पर भी जिस प्रकार परिमाण, गुण और आकार से समान सुवर्णघट, रत्न और व्रीहि (धान) आदि का परस्पर भेद होता है, उसी प्रकार आत्माओं का भी भेद सिद्ध होता है, उस कारण आत्माओं का भेद स्वीकार करना चाहिए।

व्याख्या-

निर्विशेषाद्वैत मत-

औपाधिक भेद- एक आत्मा को स्वीकार करने पर आत्मा के भेद का प्रतिपादन करने वाली श्रुति से विरोध होता है, ऐसा जो सविशेषाद्वैतवादी ने कहा था, वह उचित नहीं है क्योंकि आत्मा के भेद का प्रतिपादक श्रुति अन्तःकरण उपाधि से होनेवाले भेद का प्रतिपादन करती है, स्वाभाविक भेद का प्रतिपादन नहीं करती। चेतन आत्मा एक है, अन्तःकरण उपाधि से युक्त आत्मा को जीवात्मा कहते हैं। जिस प्रकार आकाश एक है, घटादि उपाधियाँ अनेक हैं इसलिए आकाश एक होने पर भी घटावच्छिन्न (घट में विद्यमान) आकाश अनेक हैं, उसी प्रकार आत्मा एक है, अन्तःकरण उपाधियाँ अनेक हैं, इसलिए अनेक अन्तःकरण उपाधि से अवच्छिन्न आत्मा अनेक हैं अतः हम स्वाभाविक भेद का निराकरण करते हैं, औपाधिक भेद तो हमें मान्य है।

सविशेषाद्वैत मत-

स्वाभाविक भेद- औपाधिक भेदवाद उचित नहीं है क्योंकि - (1. दृष्टान्त असङ्गत है, दृष्टान्त में आकाश को एक कहा है, वास्तव में वह एक नहीं है क्योंकि ''आकाश की उत्पत्ति होती है'' ऐसा **आत्मन आकाशः संभूतः** (तै.उ.2.1.1) इत्यादि श्रुतियों से ज्ञात होता है। जिस पदार्थ की उत्पत्ति होती है, वह स्वरूपतः एक नहीं होता जैसे अनेक पृथिवी पृथिवीत्वेन एक हैं, स्वरूपतः भिन्न भिन्न हैं। निरवयव वस्तु का विभाग नहीं हो सकता है किन्तु पञ्चीकरण प्रक्रिया से आकाश

का विभाग होता है, इससे भी आकाश सावयव ज्ञात होता है, सावयव पदार्थ एक नहीं हो सकता है। इस प्रकार आकाश को एक मानना श्रुतिविरुद्ध है, इसलिए आकाश दृष्टान्त से आत्मा का औपाधिक भेद सिद्ध नहीं होता अतः श्रुतिप्रतिपादित आत्मभेद स्वाभाविक ही है और क्योंकि 2.) मुक्तावस्था में भी भेद विद्यमान रहता है। यदि आत्माओं का औपाधिक भेद होता तो मुक्तावस्था में भेद नहीं रहता क्योंकि उस समय कोई उपाधि नहीं रहती है। सभी उपाधियों के अभाववाली अवस्था ही मुक्तावस्था है। सूरिगण सदा परमात्मा नारायण का साक्षात्कार करते रहते हैं - **सदा पश्यन्ति सूरयः** (तै.सं.1.3.6.2., सु.उ.6) इत्यादि श्रुतियाँ सकल उपाधियों के अभाव की दशा में भी सूरयः इत्यादि बहुवचनान्त पदों के द्वारा आत्मा के भेद का प्रतिपादन करती हैं। इस ज्ञान का आश्रय लेकर जो मेरी समता को प्राप्त हो गये हैं, वे सृष्टि होने पर भी उत्पन्न नहीं होते ओर प्रलय में व्यथित नहीं होते - **इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः। सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥** (गी. 14.2) यहाँ मुक्तों के लिए 'आगता:', 'नोपजायन्ते', 'न व्यथन्ति' इस प्रकार बहुवचनान्त पदों का प्रयोग होने से मोक्ष दशा में भी आत्माओं का भेद सिद्ध होता है। श्रीभगवान् मुक्तों के परम आश्रय हैं - **मुक्तानां परमागतिः।** (वि.स.15) यहाँ 'मुक्तानाम्' इस बहुवचनान्त पद के द्वारा गुक्तावस्था में भी आत्माओं का भेद सिद्ध होता है।

पूर्व कर्म के कारण कोई आत्मा देव (देवशरीर वाली), कोई मनुष्य (मनुष्यशरीर वाली), कोई पशु (पशुशरीर वाली) और कोई पक्षी (पक्षीशरीर वाली) होती है। ये सभी आत्माएं भिन्न हैं। भिन्न का अर्थ होता है - भेद (अन्योन्याभाव) का आश्रय। देव का भेद मनुष्य में रहता है और मनुष्य का भेद देव में रहता है। अधिकरण में विद्यमान असाधारण धर्म को भेद कहते हैं। मनुष्य में रहने वाला देव का भेद मनुष्यत्वरूप है और देव में रहने वाला मनुष्य का भेद देवत्वरूप है। देवशरीर की आकृति ही देवत्व है और मनुष्य शरीर की आकृति ही मनुष्यत्व है। इस प्रकार देव और मनुष्य का जो मनुष्यत्व और देवत्व रूप भेद है वह मनुष्यशरीर और देवशरीर में विद्यमान रहता है। वस्तुतः देवत्व, मनुष्यत्व आदि भेद

आत्माओं में नहीं रहते हैं। ये शरीर की आकृतिरूप होने से शरीरों में ही रहते हैं। देव, मनुष्यादि सभी प्रकार के शरीर प्रकृति के परिणाम हैं। जैसे - जपाकुसुम (गुड़हल का फूल) में विद्यमान लाल रंग स्फटिक का नहीं है, वैसे देवत्व-मनुष्यत्व आदि आत्मा के नहीं हैं। आत्मा का शरीर से सम्बन्ध होने के कारण देवत्व मनुष्यत्व रूप भेद आत्मा में प्रतीत होते हैं। शरीररूप उपाधि के संसर्ग के कारण आत्मा में काम (इच्छा), क्रोध, सुख, दुःख आदि धर्म होते हैं। इनके होने से आत्मा कामी, क्रोधी, सुखी, दुःखी कही जाती है। इस प्रकार कामी का क्रोधी में, क्रोधी का कामी में, सुखी का दुःखी में और दुःखी का सुखी में भेद विद्यमान रहता है। क्रोधी में रहने वाला कामी का भेद क्रोध (क्रोधित्व) रूप है। कामी में रहने वाला क्रोधी का भेद काम (कामित्व) रूप है। दुःखी में रहने वाला सुखी का भेद दुःखरूप और सुखी में रहनेवाला दुःखी का भेद सुखरूप होता है। ये काम क्रोधादिरूप भेद आत्मा के स्वाभाविक धर्म नहीं हैं। ये शरीर उपाधि के संसर्ग से होने के कारण औपाधिक धर्म हैं। ब्रह्मसाक्षात्कार से अनादि कर्मरूप अज्ञान का विनाश होने पर मोक्ष दशा आती है। कर्म ही शरीर उपाधि का कारण होता है। मोक्ष दशा में उस के न रहने से शरीर उपाधि नहीं होती है और उपाधि के न होने से देवत्व, मनुष्यत्वादिरूप भेद तथा काम, क्रोधादिरूप भेद भी नहीं रहते हैं।

मोक्ष दशा में सभी प्रकार के भेदों का अभाव होने पर आत्माएं अत्यन्त समान होती हैं। इसलिए उस समय अन्य प्रकार (शरीर उपाधि) से भेद का प्रतिपादन करना असम्भव है, फिर भी जिस प्रकार समान परिमाण (लम्बाई-चौडाई) वाले, समान गुणवाले और समान आकार (आकृति) वाले सुवर्णघट, रत्न और व्रीहि का परस्पर भेद सिद्ध होता है, उसी प्रकार आत्मस्वरूप का भी भेद सिद्ध होता है। सभी घटों का एक आकार घटत्व (कम्बुग्रीवादिमत्त्व), रत्नों का एक आकार रत्नत्व और व्रीहि का एक आकार व्रीहित्व होता है। घटादि का गुण रक्तत्वादि है और आत्मा का गुण धर्मभूतज्ञान है। आत्माओं का अणु परिमाण है। सभी आत्माओं का ज्ञान ही एक स्वरूप है, ज्ञानत्व ही एक आकार (असाधारण धर्म) है। इस ज्ञानत्वरूप एक आकार से सभी आत्माएं अत्यन्त समान हैं।

जिस प्रकार समान सुवर्णघट, रत्न और व्रीहि का परस्पर में स्वरूपतः भेद होता है, उसी प्रकार समान आत्माओं का परस्पर में स्वरूपतः भेद होता है इसलिए आत्माओं का भेद स्वीकार करना चाहिए। यह भेद औपाधिक नहीं है, वे अपने से अन्य भेदक (उपाधि) के विना स्वरूपतः ही भिन्न भिन्न हैं। इस भेद का निराकरण नहीं किया जा सकता है।

पूर्व में आत्मस्वरूप को देह, इन्द्रिय, मन, प्राण और बुद्धि से विलक्षण कहा गया था किन्तु ईश्वर देहादि पाँच तथा आत्मस्वरूप से भी विलक्षण हैं। वहीं पर आत्मस्वरूप को अजड़, आनन्दरूप कहा गया, ईश्वर का स्वरूप भी ऐसा है किन्तु वह निरतिशय आनन्दरूप है। आत्मा नित्य है और ईश्वर भी नित्य है। पूर्व में अणु आत्मा का प्रतिपादन किया गया। ईश्वर अणु नहीं है, विभु है। आत्मा और ईश्वर दोनों अव्यक्त हैं। अचेतन के सजातीयरूप से आत्मा का चिन्तन नहीं किया जा सकता है तथा अचेतन प्रकृति और आत्मा दोनों के सजातीय रूप से ईश्वर का चिन्तन नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार आत्मा और ईश्वर दोनों अचिन्त्य हैं। वे दोनों ही निरवयव, निर्विकार और ज्ञान के आश्रय हैं। ईश्वर का नियाम्य आत्मा है, ईश्वर का धार्य आत्मा है और ईश्वर का शेष आत्मा है। इसी प्रकार अचित् पदार्थ भी ईश्वर का नियाम्य, धार्य और शेष है।

आत्मस्वरूप का विस्तार से प्रतिपादन करने के पश्चात् अब उसका सुग्राह्य और लघु लक्षण कहा जाता है –

29.शेषत्वे सति ज्ञातृत्वम् आत्मनां लक्षणम्

अर्थ-

आत्मा का लक्षण है – शेष होते हुए ज्ञाता होना।

व्याख्या-

असाधारण धर्म को लक्षण कहते हैं, यह लक्ष्य में रहता है और

लक्ष्य से भिन्न अलक्ष्य में नहीं रहता है। शेषत्व से विशिष्ट ज्ञातृत्व आत्मा का लक्षण है। लक्षण में शेषत्व विशेषण है और ज्ञातृत्व विशेष्य है। श्रीभगवान् का शेष आत्मा है, उसमें शेषत्व रहता है और ज्ञाता (ज्ञान का आश्रय) आत्मा है, उस में ज्ञातृत्व भी रहता है। इस प्रकार शेषत्वे सति ज्ञातृत्व लक्षण का लक्ष्य आत्मा में समन्वय होता है। यदि ज्ञातृत्व न कहकर केवल शेषत्व आत्मा का लक्षण किया जाय तो अचित् में अतिव्याप्ति होती है क्योंकि अचित् भी भगवान् का शेष है, उसमें भी शेषत्व रहता है। इस दोष के निवारण के लिए लक्षण में ज्ञातृत्व जोड़कर शेषत्वे सति ज्ञातृत्व लक्षण किया जाता है। अचेतन ज्ञाता नहीं होता है इसलिए उसमें ज्ञातृत्व नहीं रहता है। इस प्रकार अलक्ष्य अचित् में लक्षण न जाने से अतिव्याप्ति दोष नहीं होता है। यदि केवल 'ज्ञातृत्व' आत्मा का लक्षण किया जाए तो ईश्वर में अतिव्याप्ति होती है क्योंकि वह भी ज्ञाता है अतः ज्ञातृत्व लक्षण उसमें चला जाता है। इस दोष के निराकरण के लिए शेषत्व पद लगाकर शेषत्वे सति ज्ञातृत्व लक्षण किया जाता है। परमात्मा शेषी है, शेष नहीं अतः उसमें लक्षण न जाने से अतिव्याप्ति नहीं होती है। इच्छानुसार जिसका उपयोग किया जाता है, उसे शेष कहते हैं, प्रेमी भक्त भगवान् का इच्छानुसार उपयोग करते है इसलिए उनके शेष भगवान् होते हैं। वे ज्ञाता भी हैं, अतः **शेषत्वे सति ज्ञातृत्व** लक्षण की भगवान् में अतिव्याप्ति होती है, ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि लक्षण में शेषत्व पद से स्वाभाविक शेषत्व विवक्षित है, स्वाभाविक शेषत्व जीवात्मा में है, परमात्मा में नहीं। परमात्मा स्वाभाविक शेष नहीं है, वे तो अपनी इच्छा से प्रेमी भक्त के शेष बन जाते हैं अतः अतिव्याप्ति दोष नहीं है।

30.एतेषां ज्ञानमपि स्वरूपवन्नित्यं द्रव्यरूपम् अजडम् आनन्दरूपञ्च तर्हि स्वरूपस्य ज्ञानस्य च को भेद इति चेत् स्वरूपं धर्मि, संकोचविकासायोग्यं, स्वेतराप्रकाशकम्, स्वस्मै स्वयं प्रकाशमानम्, अणुपरिमाणं च भवति, ज्ञानं तु धर्मभूतं संकोच-विकासयोग्यम्, स्वेतरवस्तुप्रकाशकम्, स्वस्मै स्वयमप्रकाशमानम् आत्मने प्रकाशमानम्, विभु च भवति।

अर्थ-

आत्माओं का धर्मभूत ज्ञान भी आत्मस्वरूप के समान नित्य, द्रव्यरूप, अजड और आनन्दरूप है तो आत्मस्वरूप और धर्मभूतज्ञान का क्या भेद है? आत्मस्वरूप धर्मी है, संकोच - विकास के अयोग्य है, अपने से इतर का प्रकाशक नहीं है, अपने लिए स्वयं प्रकाशित होने वाला है और अणु परिमाण वाला है किन्तु ज्ञान धर्म है, संकोच - विकास के योग्य है, अपने से इतर वस्तु का प्रकाशक है, अपने लिए स्वयं प्रकाशित होने वाला नहीं है, आत्मा के लिए प्रकाशित होने वाला है और विभु परिमाण वाला (व्यापक) है।

व्याख्या-

जैसे आत्मस्वरूप नित्य है, द्रव्य है, अजड (स्वयं प्रकाश) है और आनन्दरूप है, वैसे ही धर्मभूतज्ञान भी नित्य है,द्रव्य है,अजड है और आनन्दरूप है ।

आत्मा और धर्मभूतज्ञान की समानता

आत्मा (स्वरूपभूत ज्ञान)	**धर्मभूत ज्ञान**
1. आत्मा नित्य है।	1. धर्मभूतज्ञान नित्य है।
2. आत्मा द्रव्य है।	2. धर्मभूतज्ञान द्रव्य है।
3.आत्मा स्वयंप्रकाश है।	3. धर्मभूतज्ञान स्वयंप्रकाश है।
4. आत्मा आनन्दरूप है।	4. धर्मभूतज्ञान आनन्दरूप है।

ज्ञाता के ज्ञान का लोप नहीं होता है - **नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते।** (बृ.उ.4.3.30) इस श्रुति से धर्मभूतज्ञान नित्य सिद्ध होता है। नित्यत्व, द्रव्यत्व, अजडत्व और आनन्दरूपत्व धर्म से जब आत्मा और धर्मभूत ज्ञान की समानता है तो इनमें क्या भेद है? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं-

आत्मा और धर्मभूतज्ञान का भेद

आत्मा (स्वरूपभूत ज्ञान)	**धर्मभूत ज्ञान**
1. आत्मा धर्मी है।	1. ज्ञान धर्म है।
2. आत्मा संकोच-विकास के अयोग्य है।	2. ज्ञान संकोच-विकास के योग्य है।
3. आत्मा अपने से भिन्न विषय का प्रकाशक नहीं है।	3. ज्ञान अपने से भिन्न विषय का भी प्रकाशक है।
4. आत्मा अपने लिए स्वयंप्रकाश है।	4. ज्ञान अपने लिए स्वयंप्रकाश नहीं है बल्कि आत्मा के लिए स्वयं प्रकाश है।
5. आत्मा का अणु परिमाण है।	5. धर्मभूतज्ञान का विभु परिमाण है।

आत्मस्वरूप सदा एकरूप रहता है, उसका संकोच-विकास नहीं होता। धर्मभूतज्ञान विभु होने पर भी अनादि कर्मरूप अज्ञान के कारण बद्धावस्था में संकुचित होकर देहव्यापी हो जाता है। बद्ध आत्मा के ज्ञान का प्रसार इन्द्रिय के अधीन होता है। जिस जीवात्मा के ज्ञान का कर्म से संकोच होता है, वह अल्प ज्ञानवाला होता है और जिस जीवात्मा के ज्ञान का कर्म से विकास होता है, वह अधिक ज्ञानवाला होता है। आत्मस्वरूप केवल अपना प्रकाशक है, अन्य का प्रकाशक नहीं है। धर्मभूतज्ञान तो अपने से भिन्न घटादि विषयों का प्रकाशक है और अपना भी प्रकाशक है। आत्मा अपने लिए स्वयंप्रकाश - **स्वस्मै स्वयं प्रकाशमान** है और ज्ञान अपने लिए स्वयंप्रकाश नहीं है। वह पर के लिए स्वयं प्रकाश - **परस्मै स्वयंप्रकाश** है। वह घटादि विषयों को आत्मा के लिए प्रकाशित करता है और अपने को भी आत्मा के लिए प्रकाशित करता है इसलिए आत्मा घटादि विषयों का ज्ञाता होती है और ज्ञान का भी ज्ञाता होती है। ज्ञान विषयप्रकाशनकाल में ही आत्मा के लिए विषयों का और अपना प्रकाश करता है। ज्ञानयोगी और भक्तियोगी की आत्माकार और ब्रह्माकार वृत्तियाँ भी धर्मभूतज्ञान की ही होती है। इस प्रकार धर्मभूतज्ञान सब का प्रकाश करता है, आत्मा का स्वरूपभूत ज्ञान तो केवल आत्मा का ही प्रकाश

करता है। 'घटज्ञानवान् अहम्' इस प्रकार ज्ञान घटादि विषय का प्रकाश करता है, अपना (ज्ञान का) प्रकाश करता है और ज्ञान के आश्रय आत्मा का भी प्रकाश करता है।

ऊपर ज्ञान को विभु कहा गया। किस आत्मा का ज्ञान विभु है? और किस आत्मा का ज्ञान विभु नहीं है? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा जाता है -

31.तत्र केषांचिज्ज्ञानं सर्वदा विभु, केषांचिच्च सर्वदाऽविभु, केषांचित् तु कदाचित् विभु कदाचिदविभु च।

अर्थ-

उन आत्माओं में कुछ (नित्य) आत्माओं का ज्ञान सदा विभु रहता है और कुछ (बद्ध) आत्माओं का ज्ञान सर्व काल में अविभु रहता है किन्तु कुछ (मुक्त) आत्माओं का ज्ञान कभी विभु और कभी अविभु होता है।

व्याख्या -

ऊपर बद्ध, मुक्त और नित्य भेद से तीन प्रकार की आत्माएं कही गयी थीं, उनमें नित्यसूरियों का ज्ञान सदा व्यापक ही रहता है। ज्ञान के संकोच का हेतु कर्म होता है। नित्यों का कोई कर्म है ही नहीं, अतः उनका ज्ञान सदा व्यापक ही रहता है। बद्ध आत्माओं के ज्ञानके संकोच का हेतु कर्म विद्यमान रहता है, अतः उनका ज्ञान संकुचित होने से अव्यापक होता है। मुक्तावस्था में ज्ञान के संकोच का हेतु कर्म का अभाव होता है, अतः उस अवस्था में मुक्तात्मा का ज्ञान विभु होता है और मुक्तावस्था से पहले ज्ञान के संकोच का हेतु कर्म रहने से उसका ज्ञान अव्यापक होता है। सूक्ष्म केश के अग्रभाग के 100 भाग करके उनमें भी एक भाग के 100 भाग करने पर उनमें एक भाग जितना सूक्ष्म है, उतना सूक्ष्म आत्मा है। वह मुक्तावस्था में धर्मभूतज्ञान के विकास से विभुरूप अनन्त होती है- **वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥** (श्वे.उ.5.9) मुक्तात्मा सभी का

साक्षात्कार करता है- **सर्वं ह पश्यः पश्यति।** (छां.उ.7.26.2) इत्यादि श्रुतियों से मुक्तावस्था में अणु आत्मा का धर्मभूत ज्ञान विभु कहा जाता है। नित्य सूरि सदा मुक्त ही रहते हैं, अतः उनका धर्मभूत ज्ञान सदा विभु रहता है।

32.ज्ञानस्य नित्यत्वे ज्ञानं मे जातम्, नष्टम् इति व्यवहारः कथम्? इति चेत् इन्द्रियद्वारा बहिर्निसृत्य विषयान् गृह्णाति निवर्तते च अतः तथा व्यवह्रियते। इदमेकमपि नानात्वेन भासते प्रसरणभेदेन।

अर्थ-

धर्मभूत ज्ञान का नित्यत्व होने पर 'मेरा ज्ञान उत्पन्न हुआ' और 'मेरा ज्ञान नष्ट हुआ।' यह व्यवहार (कथन) कैसे सम्भव होता है? ज्ञान इन्द्रियद्वारा बाहर निकलकर विषय को प्रकाशित करता है और उससे निवृत्त होकर विषय को प्रकाशित नहीं करता है इसलिए वैसा (ज्ञानं मे जातम्, ज्ञानं मे नष्टम्) व्यवहार होता है। ज्ञान एक होने पर भी प्रसरण के भेद से अनेकत्वेन प्रतीत होता है।

व्याख्या -

धर्मभूतज्ञान इन्द्रियद्वारा बाहर निकलकर विषयों को प्रकाशित करता है, इसलिए 'मेरा ज्ञान उत्पन्न हुआ' यह व्यवहार होता है, इस प्रकार ज्ञानका विकास (प्रसरण) अर्थात् इन्द्रिय द्वारा बाहर निकलकर विषय को प्रकाशित करना ही ज्ञान का उत्पन्न होना है और इसके बाद वह वापस आकर (विषय को प्रकाशित करने से निवृत्त होकर) विषय को प्रकाशित नहीं करता है इसलिए मेरा ज्ञान नष्ट हुआ, ऐसा व्यवहार होता है। इस प्रकार ज्ञान का संकोच अर्थात् इन्द्रिय द्वारा बाहर न निकलकर विषय को प्रकाशित न करना ही ज्ञान का नाश है। ज्ञान गुण की विविध वृत्तियाँ (विषयाकार परिणाम) होती रहती हैं। धर्मभूतज्ञान नित्य है, उसकी वृत्तियाँ अनित्य हैं।

इन्द्रिय द्वारा बाहर प्रसरित होकर विषय का प्रकाश करने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। उनमें घट के आकार का होकर घट का प्रकाशक ज्ञान

घटज्ञान, पटाकार होकर पट का प्रकाशक ज्ञान पटज्ञान, रसाकार होकर रस का प्रकाशक ज्ञान रसज्ञान कहलाता है। चक्षु के द्वारा प्रकाशक ज्ञान चाक्षुष और रसना के द्वारा प्रकाशक ज्ञान रासन कहलाता है। मन के द्वारा पूर्वानुभूत विषय के आकार का हुआ ज्ञान स्मृति कहलाता है। इस प्रकार ज्ञान एक होने पर भी प्रसरणभेद के कारण अनेक रूप से भासित होता है।

33.ज्ञानस्य द्रव्यत्वं कथम्? इति चेत् क्रियागुणयोराश्रयत्वाद् अजडत्वाच्च। अजडत्वे सुषुप्तिमूर्च्छादिषु कुतो न प्रकाशते? इति चेत् प्रसरणाभावान्न प्रकाशते।

अर्थ -

ज्ञान का द्रव्यत्व कैसे है? क्रिया और गुण का आश्रय होने से और अजडत्व (स्वयं प्रकाश) होने से (ज्ञान का द्रव्यत्व है)। ज्ञान का अजडत्व होने पर वह सुषुप्ति और मूर्च्छा आदि में क्यों प्रकाशित नहीं होता है? प्रसरण का अभाव होने से प्रकाशित नहीं होता है।

व्याख्या -

कुछ दार्शनिक ज्ञान को गुण ही कहते हैं किन्तु यहाँ ग्रन्थ में **ज्ञानमपि स्वरूपवन्नित्यं द्रव्यरूपम्** इस प्रकार ज्ञान का द्रव्यत्व कहा था, वह कैसे सम्भव है?

ज्ञान का द्रव्यत्व -

जो क्रिया का आश्रय होता है और गुण का आश्रय होता है, वह द्रव्य होता है तथा जो अजड पदार्थ होता है, वह भी द्रव्य होता है। इन्द्रियद्वारा ज्ञान का विकास (प्रसरण क्रिया) होने पर वह विषय से सम्बद्ध होकर विषय का प्रकाश करता है। इसके पश्चात् ज्ञान का संकोच हो जाता है। इस प्रकार धर्मभूतज्ञान की संकोच और विकासरूप क्रियाएं होती हैं। इन क्रियाओं का आश्रय होने से ज्ञान द्रव्य होता है। ज्ञान द्रव्य होने पर भी सदा आत्मा के आश्रित रहने से उसे **गुणाद् वालोकवत्** (ब्र.सू.2.3.26) इस सूत्र में गुण कहा गया है। विषय का प्रकाश करने के लिए विषय से ज्ञान का संयोग होता है। ज्ञान के संयोग का आश्रय ज्ञान

है, संयोग गुण है, उस गुण का आश्रय होने से ज्ञान को द्रव्य कहते हैं। पदार्थ के दो भेद होते हैं - द्रव्य और अद्रव्य। सत्त्व, रज, तम, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग और शक्ति ये 10 अद्रव्य होते हैं। अद्रव्य द्रव्य के ही आश्रित रहता है। द्रव्य के दो भेद हैं - जड (अस्वयंप्रकाश) और अजड (स्वयंप्रकाश)। इस प्रकार हम देखते हैं कि अजड अद्रव्य नहीं है, अजड वस्तु द्रव्य है। अजड होने से ज्ञान द्रव्य होता है - **ज्ञानं द्रव्यम् अजडत्वात् आत्मवत्।** इस प्रकार क्रिया का आश्रय होने से गुण का आश्रय होने से और अजड होने से ज्ञान द्रव्य सिद्ध होता है।
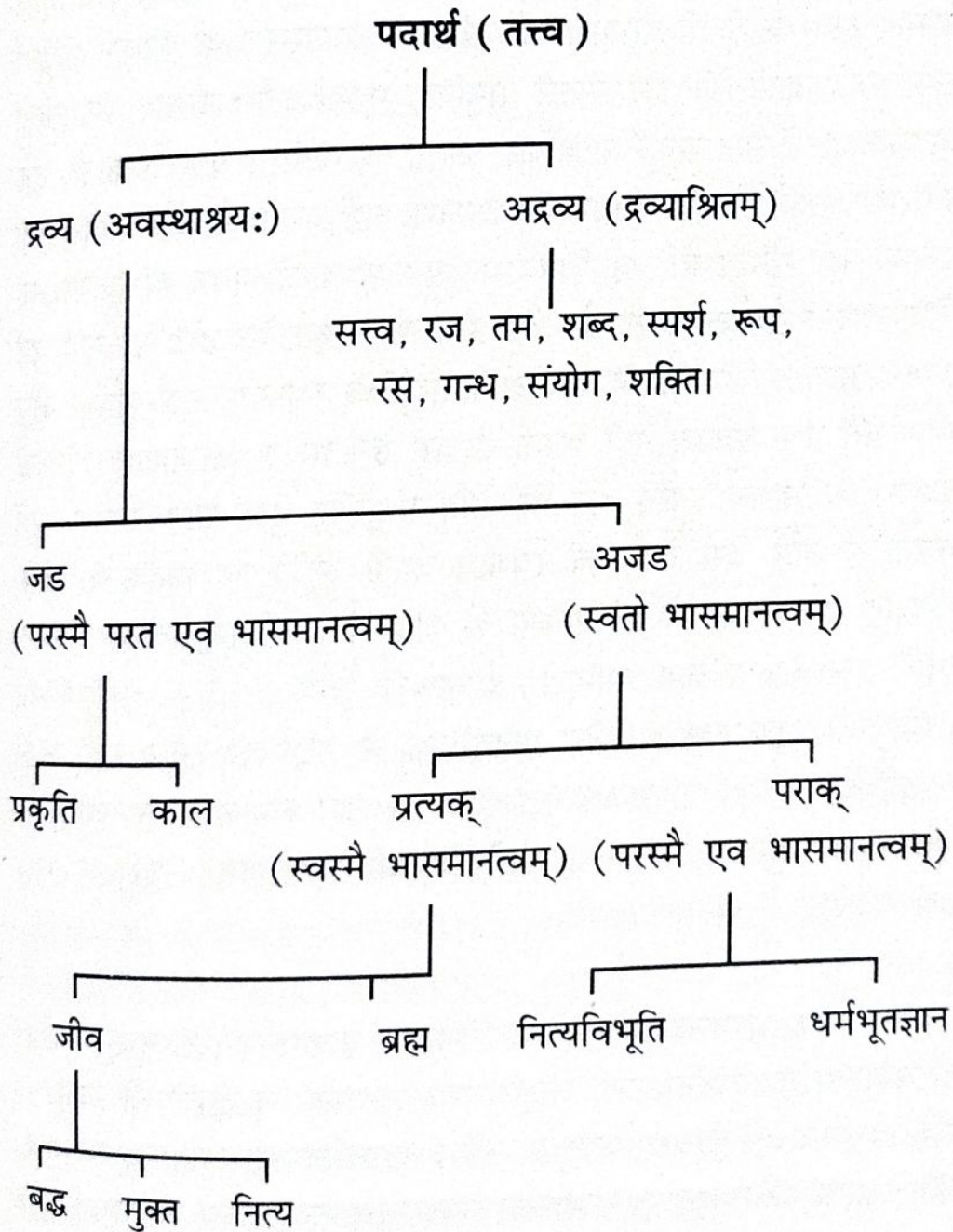
शंका-

ज्ञान अजड है, अजड वस्तु स्वंयप्रकाश होती है तो सुषुप्ति, मूर्च्छा आदि अवस्थाओं में उसका प्रकाश क्यों नहीं होता है।

समाधान-

सत्त्वगुण ज्ञान के प्रसरण का हेतु है। उसके होने पर इन्द्रियद्वारा विषय-प्रकाशक ज्ञान का प्रसरण होता है। तमोगुण प्रसरण का प्रतिबन्धक है, तमोगुण बढकर शरीर-इन्द्रियों को आवृत और शिथिल कर देता है अतः विश्राम पाने के लिए सुषुप्ति अवस्था आ जाती है। मूर्च्छा और उन्माद अवस्था में भी तमोगुण की वृद्धि से ज्ञानप्रसरण के साधन इन्द्रियाँ उपरत हो जाती हैं। इस प्रकार सुषुप्ति, मूर्च्छा और उन्माद इन तीनों अवस्थाओं में ज्ञान संकुचित होकर आत्मा के आश्रित बना रहता है, तब प्रसरण न होने से ज्ञान विषय का प्रकाश नहीं करता है और अपना भी प्रकाश नहीं करता है। वह विषय का प्रकाश करते समय ही आत्मा के लिए अपना प्रकाश करता है। जैसे मेघ से आच्छादित होने पर सूर्य की प्रभा प्रकाश नहीं करती है तथा अति संकुचित स्थान में रखे दीपक और मणि की प्रभा प्रकाश नहीं करती है वैसे ही तम से आच्छादित होने से प्रसरण के साधन उपरत होने पर अति संकुचित हुआ ज्ञान प्रकाश नहीं करता है और जैसे दाहकत्व स्वभाव वाली अग्नि का दाहकत्व मणि, मन्त्रादि प्रतिबन्धक से प्रतिबन्धित हो जाता है, वैसे ही प्रकाश स्वभाव वाले ज्ञान का प्रकाश तमोगुण प्रतिबन्धक से प्रतिबन्धित (संकुचित) हो जाता है। जैसे प्रतिबन्धक के हटने पर अग्नि दाह करने लगती है, वैसे ही प्रतिबन्धक के हटने पर ज्ञान प्रकाश करने लगता है। यह विषय **पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्ति योगात्** (ब्र.सू.2.3.31) इस ब्रह्मसूत्र में प्रतिपादित है।

34.आनन्दरूपत्वञ्च ज्ञानस्य प्रकाशकालेऽनुकूलत्वम्। विषशस्त्रादिप्रदर्शनकाले तद्विषयकज्ञानस्य दुःखरूपत्वे कारणं देहात्मभ्रमादयः। ईश्वरात्मकतया सर्वेषां पदार्थानां आनुकूल्यमेव स्वभावः प्रातिकूल्यं त्वागन्तुकम्। वस्त्वन्तरनिष्ठस्याप्यानुकूल्यस्य स्वाभाविकत्वे

कस्यचित् कदाचित् कुत्रचिदनुकूलानां चन्दनकुसुमादीनां देशान्तरे कालान्तरे च तं प्रत्येव तद्देशे तत्काले चान्यं प्रति च प्रतिकूलता न स्यात्।

चित्प्रकरणं समाप्तम्

अर्थ-

प्रकाशित होते समय (ज्ञान की)अनुकूलता ही ज्ञान की आनन्दरूपता है। (शत्रु के द्वारा मारने के लिए) विष, शस्त्रादि दिखाते समय उसको विषय करने वाले ज्ञान (विष, शस्त्रादि के ज्ञान) की दुःखरूपता में देहात्मभ्रमादि कारण होते हैं। ईश्वरात्मकत्व (ब्रह्मात्मकत्व) के कारण सभी पदार्थों का अनुकूलता ही स्वभाव है, प्रतिकूलता तो आगन्तुक होती है। अब्रह्मात्मक (स्वतन्त्र) वस्तु की भी अनुकूलता का स्वाभाविकत्व होने पर किसी मनुष्य के लिए किसी देश और किसी काल में अनुकूल चन्दनकुसुमादि की अन्य देश और अन्य काल में उसके प्रति ही प्रतिकूलता नहीं होनी चाहिए तथा उसी देश और उसी काल में अन्य के प्रति प्रतिकूलता नहीं होनी चाहिए।

व्याख्या -

ज्ञान की आनन्दरूपता -

ज्ञान आत्मा के लिए स्वयं प्रकाश है - **आत्मने स्वयंप्रकाशमानम्।** यह आत्मा के लिए विषय का प्रकाश करते समय अपना भी प्रकाश करता है। अनुकूल ज्ञान को आनन्द कहते हैं। ज्ञान से अतिरिक्त आनन्द नहीं है। ज्ञान प्रकाशकाल में (प्रकाशित होते समय) अनुकूल रहता है। प्रकाशकाल में उसकी अनुकूलता ही आनन्दरूपता है। इस आनन्दरूपता का आश्रय ज्ञान आनन्दरूप होता है।

प्रश्न -

यदि ज्ञान आनन्दरूप है तो शत्रु के द्वारा हनन करने के लिए विष, शस्त्रादि प्रदर्शित करते समय विषादि का ज्ञान दुःखरूप क्यों होता है?

उत्तर -

शत्रु द्वारा विष और शस्त्रादि दिखाते समय विषादि के ज्ञान की दु:खरूपता में कारण देह- आत्मभ्रम, कर्म और ईश्वरात्मक ज्ञान का न होना है। देह को आत्मा समझना भ्रम है। शत्रु विष और शस्त्रादि के द्वारा देह को मार सकता है, आत्मा को नहीं। देह के नाश से अपने आत्मस्वरूप का नाश मानने वाले भ्रमित मनुष्य का विषादिविषयक ज्ञान दु:खरूप होता है। ज्ञान की दु:खरूपता का कारण देहात्मभ्रम होता है। आत्मज्ञानी जानता है कि विरोधी व्यक्ति शरीर का हनन कर सकता है, मेरा नहीं अत: उसका विषादिविषयक ज्ञान दु:खरूप नहीं होता है। प्रतिबन्धक कर्मों के कारण देह से भिन्न आत्मा का ज्ञान नहीं होता है अपितु देहात्मभ्रम होता है। इस भ्रम के कारण विषादि का ज्ञान दु:खरूप होता है। इस प्रकार ज्ञान की दु:खरूपता का कारण कर्म होता है। ब्रह्मात्मकत्वेन पदार्थों के ज्ञान का अभाव भी ज्ञान की दु:खरूपता का कारण है।

अनुकूल ज्ञान ही आनन्द है, इस कारण आत्मा के स्वरूपभूत ज्ञान को आनन्द कहते हैं। वृत्तिज्ञान की अनुकूलता (आनन्दरूपता) तो विषय की अनुकूलता से होती है। आत्मज्ञान का विषय आत्मा आनन्दरूप है और परमात्मज्ञान का विषय परमात्मा आनन्दरूप है, इसलिए आत्मा और परमात्मा को विषय करने वाला ज्ञान आनन्दरूप होता है। पृथिवी भगवान् का शरीर है, वह पृथिवी के अन्दर रहकर उसका नियमन करता है - **यस्य पृथिवी शरीरम्, य पृथिवीमन्तरो यमयति।** (बृ.उ.3.7.7) जल भगवान् का शरीर है, वह जल के अन्दर रहकर उसका नियमन करता है - **यस्य आपश्शरीरम् योऽपोऽन्तरो यमयति।** (बृ.उ.3.7.8) सम्पूर्ण जगत् भगवान् का शरीर है - **जगत्सर्वं शरीरं ते।** (वा.रा.6.117.25) सब कुछ हरि का ही शरीर है- **तत्सर्वं वै हरेस्तनुः** (वि.पु.1.22.38) इस प्रकार जगत् भगवान् का शरीर और वे जगत् की आत्मा सिद्ध होते हैं।

ब्रह्म आनन्दरूप है - **आनन्दो ब्रह्म** (तै.उ.3.6), **कं ब्रह्म** (छां.उ. 4.10.5) श्रीभगवान् स्वतः आनन्दरूप हैं इसलिए अनुभव करने वालों को स्वतः अनुकूल ज्ञात होते हैं। उनमें आनन्दरूपता स्थायी एवं उत्कर्षता की

चरम सीमा में पहुँची रहती है। भगवान् (ईश्वर) जिस के आत्मा (नियन्ता) हैं, उसे भगवदात्मक कहते हैं - ईश्वर आत्मा नियन्ता यस्य स ईश्वरात्मक:। भगवान् सभी के आत्मा हैं इसलिए सब भगवदात्मक है। सभी पदार्थों का भगवदात्मकत्वेन ज्ञान होते समय वे अनुकूलरूप से ज्ञात होते हैं, भगवदात्मक पदार्थ में भगवदात्मकत्व रहता है - भगवदात्मकस्य भाव: भगवदात्मकत्वम्। भगवदात्मक वस्तु में रहने वाले उसके अन्तरात्मा भगवान् ही भगवदात्मकत्व हैं। सभी पदार्थों का भगवदात्मकत्व है अर्थात् सभी पदार्थों में अन्तरात्मारूप से भगवान् हैं। इस कारण उनका स्वभाव अनुकूलता है। पदार्थों की प्रतिकूलता (दु:खरूपता) आगन्तुक अर्थात् देहात्मभ्रम आदि निमित्त (उपाधि) से होती है। निमित्त के न होने पर वह नहीं रहती है। ब्रह्मवेत्ता सभी के आत्मा रूप से ब्रह्म को जानता है तथा अन्य सभी पदार्थों को ब्रह्मात्मकत्वेन जानता है। जैसे ब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञान के न होने पर ज्ञान की दु:खरूपता के कारण देहात्मभ्रम और कर्म हैं, वैसे ही ब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञान के न होने पर ज्ञान की सुखरूपता के कारण भी देहात्मभ्रम और कर्म हैं, ऐसा जानना चाहिए। प्रतिबन्धक कर्म के कारण जब ब्रह्मात्मकत्वेन पदार्थों का अनुभव नहीं होता है, उनका स्वतन्त्र (अब्रह्मात्मक) रूप से अनुभव होता है तब वे स्वतन्त्र पदार्थ कर्म के कारण ही अनुकूल प्रतीत होते हैं। उनकी अनुकूलता कर्म निमित्त से है। अत: उनमें अनुकूलता अल्प और अस्थायी होती है। प्रबल कर्म होने पर वे अधिक अनुकूल प्रतीत होते हैं। दुर्बल कर्म होने पर कम अनुकूल प्रतीत होते हैं। कर्म नष्ट होने पर उनमें अनुकूलता भी नहीं प्रतीत होती है।

ब्रह्मात्मकत्व के होने से पदार्थों की अनुकूलता को स्वभाव कहा जाता है। यदि इससे भिन्न अनुकूलता को स्वाभाविक माना जाय अर्थात् ब्रह्मात्मकत्व के अनुभव के विना पदार्थों को अनुकूलता स्वाभाविक मानी जाय तो किसी देश और किसी काल में किसी मनुष्य के लिए अनुकूल चन्दन, कुसुमादि अन्य देश और अन्य काल में उसके लिए ही प्रतिकूल नहीं होने चाहिए तथा जिस काल में एक व्यक्ति के अनुकूल चन्दन, कुसुमादि हैं, उसी काल में अन्य व्यक्ति के लिए वे प्रतिकूल नहीं होने चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता है अपितु एक देश और एक काल में एक

व्यक्ति के लिए अनुकूल चन्दन, कुसुमादि अन्य देश और अन्य काल में उसके लिए ही प्रतिकूल हो जाते हैं तथा चन्दन, कुसुमादि जिस काल में एक व्यक्ति के लिए अनुकूल होते हैं, वे उसी काल में अन्य व्यक्ति के लिए प्रतिकूल होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि अज्ञानी के अनुभव में आने वाला अब्रह्मात्मक पदार्थ न तो अनुकूल है और न ही प्रतिकूल । अनुकूलता और प्रतिकूलता उस के कर्मों के कारण होती है। ब्रह्मात्मकत्व का अनुभव होने पर ही उनका जो अनुकूलरूप से ज्ञान होता है, वह आनन्द कहलाता है। ब्रह्मात्मकज्ञान की अभाव दशा में ज्ञान की सुखरूपता और दुःखरूपता दोनों ही आगन्तुक हैं, वे देहात्मभ्रमादि के कारण होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि जैसे उस दशा में ज्ञान की दुःखरूपता का कारण देहात्मभ्रम है वैसे ही ज्ञान की सुखरूपता का कारण भी देहात्म भ्रम है। भ्रम से ही भोक्ता जीव शरीर के लिए हितकर चन्दन, कुसुम, भोजन तथा औषध आदि को आत्मा के लिए हितकर मानता है। इस कारण माला, चन्दनादि का ज्ञान आनन्दरूप होता है।

महर्षि पराशर ने कहा है – क्योंकि एक ही वस्तु एक मनुष्य के दुःख का कारण, दूसरे मनुष्य के सुख का कारण, तीसरे मनुष्य की ईर्ष्या का कारण और चौथे मनुष्य के क्रोध का कारण हो जाती है, इसलिए कोई वस्तु एक निश्चितरूप वाली कैसे हो सकती है? अर्थात् वस्तु न तो सुखरूप है और न ही दुःखरूप- **वस्त्वेकमेव दुःखाय सुखायेर्ष्यागमाय च। कोपाय च यतस्तस्माद् वस्तु वस्त्वात्मकं कुतः॥** (वि.पु.2.6.47) वस्तु की सुखरूपता और दुःखरूपता के कारण पुण्य-पाप कर्म हैं। भिन्न-भिन्न मनुष्यों के प्रति सुख-दुःख का कारण बनना वस्तु का स्वरूप नहीं है। पुण्य कर्म से वस्तु सुख का कारण बनती है और पाप कर्म से दुःख का कारण बनती है अर्थात् एक ही वस्तु किसी को सुख देती है और किसी को दुःख देती है, इस प्रकार अव्यवस्था का वर्णन करके आगे कहते हैं – एक ही वस्तु किसी मनुष्य के प्रति सुख का कारण बनकर पुनः उसी के दुःख का कारण बन जाती है। वही वस्तु उसी मनुष्य के कोप का कारण बनकर पुनः प्रसन्नता का कारण बन जाती है, इससे सिद्ध होता हे कि कोई भी वस्तु सुखात्मक नहीं है और दुःखात्मक भी नहीं -

तदेव प्रीतये भूत्वा पुनर्दुःखाय जायते। तदेव कोपाय यतः प्रसादाय च जायते॥ तस्माद् दुःखात्मकं नास्ति न च किञ्चिद् सुखात्मकम्।(वि.पु. 2.6.48-49) इस प्रकार विचार करने पर सिद्ध होता है कि एक वस्तु एक मनुष्य को सदा सुख ही देती हो या सदा दुःख ही देती हो, ऐसा नहीं है इस लिए एक मनुष्य के प्रति भी एक सी व्यवस्था नहीं होती। वस्तु कर्म से सुख, दुःख का कारण बनती है, स्वरूपतः नहीं। ब्रह्मसाक्षात्कार से कर्म निवृत्त हो जाने पर दुःख होता ही नहीं है तथा अल्प और अस्थिर सुख भी नहीं होता है।

उक्त विवरण से निष्कर्ष निकलता है कि विष, शस्त्रादि का प्रतिकूल ज्ञान तथा चन्दनकुसुमादि का अनुकूल ज्ञान कर्म के कारण होता है। सभी पदार्थों का ब्रह्मात्मकत्व होने से ब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञात होते समय उनका ज्ञान आनन्दरूप ही होता है। अनन्त, अपरिमिति दुःखों की जनक बद्धावस्था में ज्ञान के संकोच के हेतु कर्म का नाश होने पर मुक्तावस्था में ज्ञान विभु रहता है। वह आनन्दरूप ब्रह्म का प्रकाश करने से तथा ब्रह्मात्मकत्वेन अन्य पदार्थो का प्रकाश करने से आनन्दरूप ही रहता है, इस प्रकार धर्मभूतज्ञान की आनन्दरूपता सिद्ध होती है।

॥ चित्प्रकरण की व्याख्या समाप्त ॥
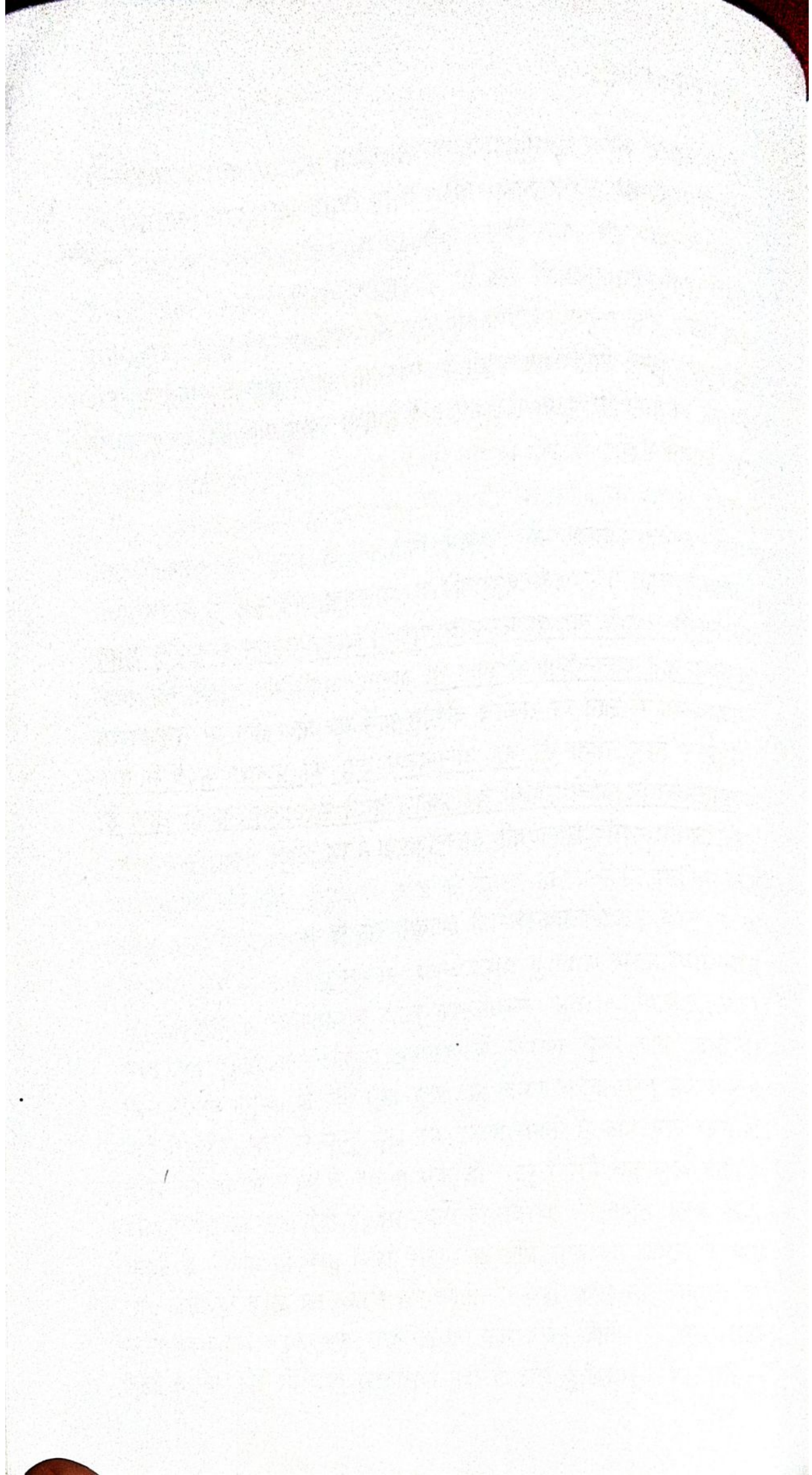
2. अचित्प्रकरणम्

चिदचिदीश्वरात्मक तत्त्वत्रय के अन्तर्गत चित् शब्द के वाच्य आत्मा के स्वरूप और स्वभाव का पूर्व में वर्णन किया गया। अब अचिद् वस्तु के स्वरूप और स्वभाव का प्रतिपादन करने के लिए आरम्भ किये गये इस प्रकरण में प्रथम अचित् का लक्षण किया जाता है -

1.अचिद् ज्ञानशून्यं विकारास्पदं च। इदं शुद्धसत्त्वं मिश्रसत्त्वं सत्त्वशून्यं चेति त्रिविधम्।

अर्थ-

अचेतन ज्ञानशून्य और विकार का आश्रय होता है। यह शुद्धसत्त्व, मिश्रसत्त्व और सत्त्वशून्य इन तीन भेदों वाला है।

व्याख्या-

अचित् का लक्षण है- ज्ञान से रहित होते हुए विकार का आश्रय होना - **ज्ञानशून्यत्वे सति विकारास्पदत्वम्।** ज्ञानशून्यत्व का अर्थ है - ज्ञान का आधार न होना। ज्ञान का आधार चित् आत्मा होती है, अचित् वस्तु ज्ञान का आधार नहीं होती है और विकार का आश्रय होती है। अचित् के तीन भेद होते हैं - शुद्धसत्त्व, मिश्रसत्त्व और सत्त्वशून्य[1]।

....

टिप्पणी - 1. शुद्धसत्त्व, मिश्रसत्त्व, सत्त्वशून्य और धर्मभूत ज्ञान के भेद से अचित् चार प्रकार का होता है। ज्ञान आत्मा का अपृथक्सिद्ध विशेषण होकर रहता है, इसलिए प्रथम आत्म(चित्) प्रकरण में उसका प्रतिपादन किया गया। अतः यहाँ अचित् के तीन भेद कहे गये । **ज्ञानशून्यत्वे सति विकारास्पदत्वम्** अचित् का लक्षण है। लक्षण में विकार पद का अर्थ अवस्था है। आगन्तुक, अपृथक्सिद्ध धर्म को अवस्था कहते हैं। ज्ञान चेतन आत्मा में ही रहता है, शुद्धसत्त्व आदि चारों में ज्ञान नहीं रहता अतः वे ज्ञानशून्य हैं, उनमें ज्ञानशून्यत्व रहता है। शुद्धसत्त्व विमानत्व-गोपुरत्वादि रूप विकारों को प्राप्त करता है। मिश्रसत्त्व महत्त्व, अहंकारत्वादि

अब त्रिविध अचित् के मध्य में प्रथम शुद्धसत्त्व का वर्णन करते हैं -

2.तत्र शुद्धसत्त्वं नाम रजस्तमोऽमिश्रकेवलसत्त्वं नित्यं ज्ञानानन्दजनकं कर्मणा विना केवलभगवदिच्छया विमानगोपुरमण्डप-प्रासादादिरूपेणपरिणतं निरवधिकतेजोरूपं नित्यमुक्तैरीश्वरेण च परिच्छेत्तुमशक्यमत्यद्भुतं वस्तु।

अर्थ-

उनमें रज और तम से रहित केवल सत्त्व शुद्धसत्त्व है, वह नित्य है, ज्ञानानन्द का जनक है, कर्म के विना केवल भगवान् की इच्छा से विमान (सभाभवन) गोपुर, मण्डप तथा प्रासाद आदि रूप से परिणाम को प्राप्त होता है, निरवधिक तेजोरूप है। नित्य, मुक्त तथा ईश्वर के द्वारा परिच्छेद करने में अशक्य और अत्यन्त अद्भुत वस्तु है।

व्याख्या-

शुद्धसत्त्व - शुद्धसत्त्व, मिश्रसत्त्व और सत्त्वशून्य इन तीनों में जो रज और तम से अमिश्रित (रहित) केवल सत्त्व होता है, उसे शुद्धसत्त्व कहते हैं। मिश्रसत्त्व (प्रकृति) में रज और तम से मिला हुआ सत्त्व होता

....

रूप विकारों को प्राप्त करता है, काल क्षणत्वादिरूप विकारों को प्राप्त करता है। ज्ञान सुखत्वादि रूप विकारों को प्राप्त करता है, अतः वे विकारास्पद हैं, उनमें विकारास्पदत्व रहता है, इस प्रकार अचित् के लक्षण का शुद्धसत्त्व आदि लक्ष्य में समन्वय हो जाता है। यदि लक्षण में ज्ञातशून्यत्व न कहकर केवल विकारास्पदत्व ही कहा जाए तो आत्मा में अतिव्याप्ति होगी क्योंकि आत्मा के आश्रित रहने वाला ज्ञान सुखत्वादि अवस्थाओं को प्राप्त करता रहता है, इन सुखत्वादि अवस्थाओं का आश्रय ज्ञान है और ज्ञान के द्वारा इन अवस्थाओं का आश्रय आत्मा है। ज्ञानशून्यत्व कहने से आत्मा में अतिव्याप्ति नहीं होती है क्योंकि वह ज्ञान से शून्य नहीं है, उसमें ज्ञान रहता है।

है, इसमें मिला हुआ सत्त्व नहीं होता इसलिए इसे शुद्धसत्त्व कहते हैं। प्रकृति मण्डल में सत्त्व, रज और तम तीनों गुण विद्यमान रहते हैं। इनमें रज और तम गुण बन्धन के कारण हैं। इसलिए ये दोनों त्याज्य हैं, सत्त्व गुण ही ग्राह्य है। शुद्ध सत्त्व को ही त्रिपादविभूति, परमपद, अमृत, नाक, अप्राकृतलोक, वैकुण्ठ, साकेत, अयोध्या तथा गोलोक आदि कहते हैं। इस प्रकृति मण्डल से पर अप्राकृत स्थान (शुद्ध सत्त्व) में निवास करने वाले परमात्मा की उपासना करता हूँ – **क्षयन्तमस्य रजसः पराके**[1] (तै.सं.2.2.12.5)। आपका धाम विशुद्ध सत्त्व है – **विशुद्धसत्त्वं तव धाम** (भा.10.27.4) इत्यादि शास्त्रवचन शुद्धसत्त्व के होने में प्रमाण हैं।

नित्यत्व – जगत्-शरीरक सर्वात्मा भगवान् क्षरणशून्य अर्थात् नित्य परमव्योम (त्रिपादविभूति) में हैं – **तदक्षरे परमे व्योमन्** (तै.ना.उ.2), विष्णु का वह परमपद है, सूरिगण जिसका सदा दर्शन करते रहते हैं – **तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।** (तै.सं.1.3.6.2,सु.उ.6) इत्यादि वचन शुद्धसत्त्व को नित्य कहते हैं। चतुर्दश लोकों वाला यह प्राकृत संसार विनाशी है। इस प्रकृति मण्डल से पर शुद्धसत्त्वात्मक भगवान् का धाम है। इसकी उत्पत्ति और विनाश नहीं होते हैं।

ज्ञानानन्दजनकत्व –सत्त्व ज्ञान का जनक होता है। विशुद्धसत्त्व रज, तम से रहित सत्त्व है, इसलिए सदा ज्ञान का जनक है, शुद्धसत्त्वमय भगवद्धाम में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और इनके आश्रय शुद्धसत्त्वमय पदार्थ सदा अनुकूल होकर ही रहते हैं, प्रतिकूल कभी भी नहीं होते, इसलिए शुद्धसत्त्व आनन्द का जनक होता है। रज और तम से रहित होने के कारण यह कभी भी दुःख और अज्ञान का जनक नहीं होता है।

परिणाम – त्रिगुणात्मिका प्रकृति भोक्ता संसारी आत्माओं के कर्मानुसार भगवत्संकल्प से महदादि से लेकर भूत-भौतिक पदार्थों के रूप

टिप्पणी – 1. क्षयन्तम् = वसन्तम्, रजसः = प्रकृतिमण्डलस्य,
पराके = परस्तात्।

में परिणत होती है। शुद्धसत्त्वात्मक भगवद्धाम में निवास करने वाले श्रीभगवान्, मुक्त और नित्यसूरि हैं। इन सबके कर्म हैं ही नहीं। शुद्धसत्त्व कर्म के विना केवल श्रीभगवान् की इच्छा से विमान, गोपुर, मण्डप, भवन, आसन, भूषण, आयुध, वृक्ष, पल्लव, नदी आदि के रूप में परिणाम को प्राप्त होता है। ईश्वरादि के शरीर भी शुद्ध सत्त्व के परिणाम हैं। प्रकृतिमण्डल में काल के अनुसार परिणाम होते हैं। जैसे - वर्षा ऋतु में हरी-भरी भूमि का होना, अन्य ऋतुओं में न होना। अमुक ऋतु में अमुक फलादि का होना, दूसरी ऋतु में न होना। इस प्रकार काल के अनुसार शुद्धसत्त्व का परिणाम नहीं होता है। उसमें काल निष्प्रभावी है। उसके सभी परिणाम भगवान् की इच्छा से ही होते हैं।

निरवधिक तेजोरूप - आकाश में तारे तेजोरूप हैं, उनसे अधिक तेज चन्द्रमा का है और चन्द्रमा से भी अधिक तेज सूर्य का है। इस प्रकार प्राकृत पदार्थों में अधिक तेजोरूप सूर्य है। शुद्धसत्त्व तो अप्राकृत है, वह सर्वाधिक तेजोरूप है। उसके समान किसी का भी तेज नहीं है।

अपरिच्छेद्य - जिसका परिच्छेद (सीमा, इयत्ता) जाना जा सके उसे परिच्छेद्य कहते हैं और जिसका परिच्छेद नहीं जाना जा सके उसे अपरिच्छेद्य कहते हैं। शुद्धसत्त्व इतना (इतने परिमाण वाला) है, इत्यादि प्रकार से उसकी सीमा को नित्य, मुक्त और ईश्वर भी नहीं जान सकते हैं, इसलिए वह अपरिच्छेद्य है।

शंका -

वेदान्तसिद्धान्त में नित्य, मुक्त और ईश्वर को सर्वज्ञ माना जाता है तो वे भी शुद्धसत्त्व का परिच्छेद नहीं जानते हैं, ऐसा क्यों कहा जाता है?

समाधान -

नित्यादि सभी सर्वज्ञ हैं। वे सभी को जानते हैं, उनसे कुछ भी तिरोहित नहीं रहता है। जो वस्तु जिस रूप में विद्यमान है, उसी रूप में जानना ही उनकी सर्वज्ञता है। शुद्धसत्त्व सीमारहित है, अतः सीमारहितरूप

से उसे जानना ही नित्य, मुक्त और ईश्वर की सर्वज्ञता है। सीमारहित वस्तु को सीमासहित जानना तो भ्रम ही है, सर्वज्ञ को भ्रम नहीं होता है। उनका यथावस्थितसर्वविषयकज्ञान होने से ही वे सर्वज्ञ कहे जाते हैं। अतः वे परिच्छेदरहितरूप से शुद्धसत्त्व को जानते हैं।

अत्यद्भुतत्व – निरन्तर अपूर्व आश्चर्य की जनक वस्तु को अत्यद्भुत कहते हैं – **अत्यद्भुतं नामानुक्षणम् अपूर्वाश्चर्यावहत्वम्।** शुद्धसत्त्व का दर्शन करने से वह उत्तरोत्तर अपूर्व आश्चर्य को करता है, इसलिए उसे अत्यद्भुत कहते हैं। सांसारिक पदार्थ पहले आश्चर्य के जनक होते हैं इसलिए उनको देखने का कौतुहल होता है, उनको ठीक से देख लेने पर आश्चर्य नहीं होता है किन्तु शुद्धसत्त्व इनसे विलक्षण है, उसका एक बार आश्चर्यमय दर्शन कर लेने पर उत्तरोत्तर दर्शन की अभिलाषा बढ़ती ही रहती है क्योंकि उसके दर्शन से उत्तरोत्तर अपूर्व आश्चर्य होता है। यह उसका वैलक्षण्य है कि उसका उत्तरोत्तर अपूर्ववत् अनुभव होता है, उत्तरकाल में शुद्धसत्त्व का अनुभव करने पर 'यह पहले जैसा है।' ऐसी प्रतीति कभी नहीं होती अपितु सदा अनुभव करने पर भी उत्तरोत्तर विलक्षण प्रतीत होता है।

3.इदं केचिज्जडमाहुः केचिद् अजडम्। अजडत्वे नित्यानां मुक्तानाम् ईश्वरस्य च ज्ञाननैरपेक्ष्येण स्वयं प्रकाशते। संसारिणां तु न प्रकाशते।

अर्थ–

कुछ विद्वान् शुद्धसत्त्व को जड कहते हैं, कुछ विद्वान् उसे अजड कहते हैं। (शुद्ध सत्त्व का) अजडत्व होने पर वह नित्य, मुक्त और ईश्वर के लिए ज्ञान की अपेक्षा न करके स्वयं प्रकाशित होता है किन्तु बद्ध आत्माओं के लिए प्रकाशित नहीं होता है।

व्याख्या–

शुद्ध सत्त्व को जड मानने वाला मत एकदेशि मत है और उसे

अजड मानने वाला मत सिद्धान्त मत है। जो पदार्थ स्वयंप्रकाश नहीं होता है, उसे जड कहते हैं - **अस्वयं प्रकाशत्वं जडत्वम्** और जो पदार्थ स्वयंप्रकाश होता है, उसे अजड कहते हैं- **स्वयं प्रकाशत्वम् अजडत्वम्।** शुद्ध सत्त्व का जडत्व स्वीकार करने वाले पक्ष में वह (शुद्धसत्त्व) ज्ञान से प्रकाशित होता है किन्तु शुद्धसत्त्व का अजडत्व स्वीकार करने वाले पक्ष में वह ज्ञान की अपेक्षा न करके स्वयं प्रकाशित होता है। वह बन्धनरहित नित्य, मुक्त और ईश्वर के लिए ही स्वयं प्रकाशित होता है। स्वयंप्रकाश पक्ष में ज्ञान से भी प्रकाशित होना मान्य है। संसारबंधन वाले प्राणियों के लिए प्रकाशित नहीं होता है क्योंकि प्रतिबन्धक कर्म विद्यमान रहते हैं।

4.आत्मनो ज्ञानाच्चास्य भेदः कुतः? इति चेद् अहमित्यभानात् शरीरादिरूपेण परिणामात्, विषयनिरपेक्षतया स्वत एव भासमानत्वात्, शब्दस्पर्शाद्याश्रयत्वाच्च भिन्नत्वम् अभ्युपेयम्।

अर्थ-

आत्मा और ज्ञान से शुद्ध सत्त्व का भेद किस कारण है? यदि ऐसा कहें तो सुनो- (आत्मा का 'अहम्' इस प्रकार प्रकाश होने से और) शुद्धसत्त्व का 'अहम्' इस प्रकार प्रकाश न होने से (आत्मा का परिणाम न होने से और) शुद्धसत्त्व का शरीरादिरूप परिणाम होने से (आत्मा से शुद्धसत्त्व का भेद स्वीकार करना चाहिए, विषयसापेक्ष होकर ज्ञान का स्वतः ही प्रकाश होने से और) विषयनिरपेक्ष होकर शुद्धसत्त्व का स्वयं ही प्रकाश होने से (शब्दस्पर्शादि का आश्रय ज्ञान न होने से और) शब्दस्पर्शादि का आश्रय शुद्धसत्त्व होने से (ज्ञान से शुद्ध सत्त्व का) भेद स्वीकार करना चाहिए।

व्याख्या-

आत्मा स्वयंप्रकाश है, उसके आश्रित रहने वाला धर्मभूतज्ञान स्वयंप्रकाश है और शुद्ध सत्त्व भी स्वयंप्रकाश है तो आत्मा और ज्ञान से शुद्धसत्त्व का क्या भेद है? इस प्रशन का उत्तर प्रस्तुत है -

आत्मा से शुद्धसत्त्व का भेद

आत्मा	शुद्धसत्त्व
1. 'अहम्' इस प्रकार आत्मा का अहन्त्वेन प्रकाश होता है।	1. 'इदम्' इस प्रकार शुद्धसत्त्व का इदन्त्वेन प्रकाश होता है।
2. आत्मा का परिणाम नहीं होता है।	2. शुद्ध सत्त्व का शरीर (नित्य, मुक्त और भगवान् के शरीर), विमान, गोपुर, मण्डप, उद्यान, वापी, पर्वत, भूषण, और आयुध आदि रूपों में परिणाम होता है।

ज्ञान से शुद्धसत्त्व का भेद

ज्ञान	शुद्धसत्त्व
1. ज्ञान विषय का प्रकाश करते समय ही अपना प्रकाश करता है। इस प्रकार ज्ञान विषयसापेक्ष होकर प्रकाशित होता है।	1. शुद्धसत्त्व विषय की अपेक्षा न करके अपना सदा प्रकाश करता रहता है।
2. ज्ञान शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, का आश्रय नहीं है।	2. शुद्धसत्त्व विलक्षण अप्राकृत शब्द,स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का आश्रय है।

5.मिश्रसत्त्वं नाम सत्त्वरजस्तमोरूपगुणत्रययुक्तः, बद्धचेतनानां ज्ञानानन्दयोः तिरोधायकः, विपरीतज्ञानजनकः नित्यः, ईश्वरस्य क्रीडापरिकरभूतः, प्रदेशभेदेन कालभेदेन च सदृशानां, विसदृशानां विकाराणाम् उत्पादकः प्रकृतिरविद्यामायेत्यभिधीयमानः कश्चिद् अचिद्विशेषः।

अर्थ-

सत्त्व, रज और तमोरूप तीन गुणों से युक्त, बद्ध आत्माओं के ज्ञान और आनन्द का आच्छादन करने वाला, विपरीत ज्ञान का जनक, नित्य, ईश्वर की लीला का सहायक, प्रदेश भेद से और काल भेद से सम और विषम कार्यो का उत्पादक, प्रकृति, अविद्या और माया इन शब्दों से कहा जाने वाला कोई अचिद्विशेष मिश्रसत्त्व कहलाता है।

व्याख्या-

मिश्रसत्त्व (प्रकृति)-

सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण प्रकृति के स्वाभाविक असाधारण धर्म हैं- **सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।**(गी.14.5) जगत् का कारण बनने वाला प्रधान सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों वाला है - **त्रिगुणं तज्जगद्योनिः** (वि.पु.1.2.21) इत्यादि वचनों से प्रतिपादित सत्त्वादि गुण वाला प्रधान है। शुद्धसत्त्व में रज और तम नहीं होते हैं किन्तु यह रज और तम से मिश्रित सत्त्व वाला होने से मिश्रसत्त्व कहलाता है।

ज्ञानानन्द का तिरोधायक-

अतिरोहित ज्ञान ब्रह्म तथा ब्रह्मात्मक चेतनाऽचेतन सभी को विषय करता है। मिश्रसत्त्व आत्मा के ज्ञानानन्द गुण का तिरोधान (आच्छादन) करने वाला है। आत्मा प्रकृति के संसर्ग से अपने ज्ञानानन्द गुण का तिरोध ान होने के कारण 'मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ, मैं मनुष्य हूँ' इस प्रकार मोह को प्राप्त होकर दुःखी होती है - **अनीशया शोचति मुह्यमानः**(मु.उ.3.1.2)। यह तिरोधान भी देह-इन्द्रियरूप में परिणत प्रकृति से संसर्ग के कारण है। इसलिए 'मैं ब्रह्मज्ञानी हूँ, सुखी हूँ' इस प्रकार अपने को नहीं जान पाता तथा अज्ञानी और दुःखी होता है। यह बद्ध जीवों के ही ज्ञानानन्द का आच्छादक है।

विपरीत ज्ञान का जनक-

देह, इन्द्रिय और विषय रूप में विद्यमान प्रकृति आत्मस्वरूप को आच्छादित करके विपरीत ज्ञान अर्थात् भ्रम को उत्पन्न करती है। देहादि

को आत्मा समझना विपरीत ज्ञान है। अपना आत्मस्वरूप ब्रह्मात्मक है, जगत् ब्रह्मात्मक है, ऐसा होने पर भी अपने आत्मस्वरूप और जगत् को स्वतन्त्र समझना विपरीत ज्ञान है, अपने स्वरूप को देवतान्तर का शेष समझना विपरीत ज्ञान है और भगवान् की शेष वस्तु को अपना शेष समझना भी विपरीत ज्ञान है।

नित्य-

प्रकृति नित्य है, उसकी उत्पत्ति और नाश नहीं होते हैं। महत् से लेकर भूत-भौतिक कार्यों की ही उत्पत्ति और नाश होते हैं। प्रकृति आदि-अन्त से रहित है - **गौरनाद्यन्तवती** (मं.उ.1.5) आदि-अन्त से रहित प्रकृति नित्य है - **अनाद्यनन्तमव्यक्तं नित्यम्।** (भा.12.4.19)

ईश्वर की लीला का परिकर-

भगवान जगत की उत्पत्ति, स्थिति और लयरूप लीला करते हैं, वह मिश्रसत्त्व के विना संभव नहीं अतः मिश्रसत्त्व उनकी लीला का परिकर (साधन) है।

विकारों का उत्पादक -

मिश्रसत्त्व के दो प्रदेश (भाग) हैं- सत्त्वादि गुणों की समता वाला प्रदेश और उनकी विषमता वाला प्रदेश। मिश्रसत्त्व के जिस भाग में तीनों गुण सम होते हैं, उससे सम विकार उत्पन्न होते हैं और जिस भाग में गुण विषम होते हैं, उस से विषम विकार उत्पन्न होते हैं। नामरूप के विभागवाले स्थूल विकार को विषम विकार कहते हैं। जैसे - महद्, अहंकार, इन्द्रियाँ, तन्मात्राएं और भूत। इससे भिन्न नामरूप विभाग के अभाव वाले सूक्ष्म विकार को सम विकार कहते हैं। परिणाम को प्राप्त होते रहना मिश्रसत्त्व का स्वभाव है। चाहे वह परिणाम सम विकाररूप हो अथवा विषम विकाररूप हो। प्रलयकाल में गुणत्रय साम्यावस्था में रहते हैं, इसलिए मिश्रसत्त्व उस समय केवल सदृश विकारों का ही उत्पादक होता है। सृष्टिकाल में प्रदेश भेद से मिश्रसत्त्व सदृश और विसदृश दोनों प्रकार के विकारों का उत्पादक होता है। उक्त विशेषताओं वाला तथा

प्रकृति, माया और अविद्या शब्दों से कहा जाने वाला अचिद्विशेष ही मिश्रसत्त्व है।

मिश्रसत्त्व प्रकृति, माया और अविद्या शब्द से क्यों कहा जाता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं-

6.विकाराणां जनकत्वात् प्रकृतिरित्यभिधीयते, ज्ञानविरोधित्वाद् अविद्येति निगद्यते, विचित्रसृष्टिकारकत्वान्मायेत्युच्यते।

अर्थ-

विकारों का जनक होने से मिश्रसत्त्व प्रकृति कहा जाता है, ज्ञान का विरोधी होने से अविद्या कहा जाता है, विचित्र सृष्टि करने वाला होने से माया कहा जाता है।

व्याख्या-

कार्य को विकार या विकृति कहते हैं और कारण को प्रकृति कहते हैं।

प्रकृति- महदादि सभी विकारों का उत्पादक होने से मिश्रसत्त्व को प्रकृति कहते हैं।

अविद्या- देह, इन्द्रिय और विषयरूप में परिणत होकर विद्या (आत्मज्ञान) का विरोधी (प्रतिबन्धक) होने से मिश्रसत्त्व को अविद्या कहते हैं।

माया- जैसे असुर और राक्षसों के अस्त्र आश्चर्यजनक कार्य करने से माया कहे जाते हैं वैसे ही परस्परविलक्षण, आश्चर्यजनक सृष्टि करने से मिश्रसत्त्व माया कहा जाता है।

7.अयञ्चाचिद्विशेषः पौङ्गैम्बुलनुम्.......... इत्युक्तप्रकारेण

चतुर्विंशतितत्त्वात्मकः।

अर्थ-

यह मिश्रसत्त्व 24 तत्त्वों वाला है।

व्याख्या-

मूल ग्रन्थ में सहस्त्रगीति ग्रन्थ का तमिलभाषामय वाक्य है। उसमें 24 तत्त्व वाली प्रकृति वर्णित है। ग्रन्थ में वक्ष्यमाण 24 तत्त्व ये हैं - 'प्रकृति, महत्, अहंकार, एकादश इन्द्रियाँ, पञ्चतन्मात्राएं और पञ्चभूत'। इस प्रकार कार्य और कारण (प्रकृति)को मिलाकर 24 तत्त्व वाली प्रकृति होती है।

24 तत्त्वों में प्रथम तत्त्व कौन है? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं -

8.तेषु प्रथमं तत्त्वं प्रकृतिः। इयं च विभक्ततम इति अविभक्ततम इति अक्षरमिति च कतिपयावस्थावती। गुणवैषम्येन महदादिविकारा अस्या उत्पद्यन्ते।

अर्थ-

उन 24 तत्त्वों में प्रथम तत्त्व प्रकृति है। वह कुछ अवस्थाओं वाली होकर विभक्ततम, अविभक्ततम और अक्षर कही जाती है। प्रकृति के गुणों की विषमता होने पर इस (प्रकृति) से महदादि विकार उत्पन्न होते हैं।

व्याख्या-

प्रलयकाल में प्रकृति के तीनों गुण साम्यावस्था में रहते हैं। इस के पश्चात् गुणों की वैषम्यावस्था होती है। इस अवस्था से पूर्व साम्यावस्था वाली प्रकृति अव्यक्त कहलाती है। इससे सूक्ष्म अवस्थावाली प्रकृति अक्षर और तम कहलाती है। तम के 2 भेद होते हैं - अविभक्ततम और विभक्ततम।

श्रीभगवान् ने संकल्प किया कि मैं बहुत हो जाऊँ - **तद् ऐक्षत बहु स्याम्।** (छां.उ.6.2.3.) इस प्रकार किए गये संकल्प से अविभक्ततम प्रकृति क्रमशः विभक्ततम, अक्षर एवं अव्यक्तरूप वाली होती है।

अविभक्ततम- जिस अवस्था में प्रकृति सर्वथा नामरूप विभाग के अयोग्य होकर जल में विलीन लवण के समान भगवान् से अविभक्त होकर रहती है, उस अवस्था वाली प्रकृति अविभक्ततम कहलाती है।

विभक्ततम- अक्षरत्व अवस्था की प्राप्ति के लिए उन्मुख अविभक्ततम प्रकृति ही विभक्ततम कहलाती है।

उक्त दोनों अवस्थाओं में 'यह अचित् हैं, यह चित्समष्टि है' इस प्रकार विवेचन नहीं हो सकता है।

अक्षर - अवस्थान्तर की प्राप्ति होने पर विभक्ततम प्रकृति 'यह अचित् है, यह चित्समष्टि है।' ऐसे विवेचन के योग्य होती है, उस समय चेतन समष्टि से संयुक्त प्रकृति अक्षर कही जाती है।

अव्यक्त - अक्षरत्वावस्था के पश्चात् गुणों की साम्यावस्था वाली प्रकृति ही कुछ और अवस्थान्तर को प्राप्त होकर अव्यक्त कहलाती है। गुणों का वैषम्य होने पर प्रकृति सृष्टि कार्य करने के लिए उन्मुख होती है, इस अवस्था वाली प्रकृति भी अव्यक्त कही जाती है। इससे महदादि विकारों की सृष्टि होती है। पृथिवी जल में लीन होती है। .... महान् अव्यक्त में लीन होता है। अव्यक्त अक्षर में लीन होता है। अक्षर विभक्ततम में लीन होता है। विभक्ततम कार्यत्वावस्थाप्राप्ति की उन्मुखता से रहित होकर अविभक्ततम शरीरक परमात्मा में उससे अभिन्न होकर रहता है - **पृथिव्यप्सु प्रलीयते।.............महान् अव्यक्ते लीयते। अव्यक्तम् अक्षरे लीयते। अक्षरं तमसि लीयते। तमः परे देव एकी भवति।** (सु.उ. 2)

इस प्रकरण के आरम्भ में सत्त्व के आधार पर अचित् के 3 भेद

बताए गये। उनमें शुद्धसत्त्व के वर्णन के पश्चात् मिश्रसत्त्व का वर्णन करते समय गुणों का वैषम्य होने पर महदादि विकारों की उत्पत्ति कही गयी। वे गुण कौन हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं -

9.सत्त्वरजस्तमांसि गुणाः, एते च प्रकृतेस्स्वरूपानुबन्धिनः स्वभावाः। प्रकृत्यवस्थायाम् अनुद्भूता विकारदशायाम् उद्भूताश्च भवन्ति।

अर्थ-

सत्त्व, रज और तम गुण हैं। ये प्रकृति के स्वरूप से सम्बन्ध रखने वाले स्वभाव (धर्म) हैं। ये प्रकृति-अवस्था में अनुद्भूत होते हैं और विकार दशा में उद्भूत होते हैं।

व्याख्या-

गुण-

सांख्य मत के अनुसार सत्त्व, रज और तमरूप त्रिगुण प्रकृति के स्वरूप ही हैं, उससे भिन्न नहीं। इस प्रकार सांख्य मत में सत्त्वादि को द्रव्य माना जाता है, उसका निराकरण करने के लिए ग्रन्थकार ने सत्त्वरजस्तमांसि गुणाः ऐसा कहा है। वेदान्त सिद्धान्त में सत्त्वादि को द्रव्य नहीं मानते हैं अपितु उन्हें प्रकृति के गुण मानते हैं। सभी प्रकार के कर्म प्रकृति के सत्त्वादि गुणों द्वारा किये जाते हैं- **प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।** (गी.3.27) प्रकृति के गुणों से मोहित अल्पज्ञ पुरुष गुणों के अनुसार कर्मों में प्रवृत्त होते हैं - **प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।** (गी.3.29) सत्त्व, रज और तम गुण प्रकृति के स्वाभाविक असाधारण धर्म हैं - **सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।** (गी. 14.5) इत्यादि वचन स्पष्ट रूप से सत्त्व, रज और तम को प्रकृति का गुण कहते हैं, अतः वे प्रकृति के स्वरूप नहीं हो सकते हैं।

सत्त्वादि तीनों प्रकृति के स्वरूप से सम्बन्ध रखने वाले धर्म हैं अर्थात् जब तक प्रकृति रहती है, तब तक सत्त्वादि गुण रहते हैं। प्रकृति सदा रहती है, इसलिए सत्त्वादि सदा रहते हैं।

प्रकृति अवस्था (गुणों की साम्यावस्था) में सत्त्वादि गुण अनुद्भूत होते हैं और विकार अवस्था में उद्भूत होते हैं। गुणों की साम्यावस्था में उन (गुणों) का विभाग ज्ञात नहीं होता है और वैषम्यावस्था में विभाग ज्ञात होता है। गुणों का विभाग उनके प्रकाश, प्रवृत्ति आदि कार्यों से ज्ञात होता है। गुणों की वैषम्यावस्था होने पर जो गुण प्रबल होता है, उस गुण का कार्य होता है। साम्यावस्था में कोई कार्य नहीं होता। अतः 'यह सत्त्व है, यह रज है, यह तम है।' इस प्रकार उनका विभाग नहीं जाना जा सकता है। अज्ञात विभाग वाले गुण अनुद्भूत कहे जाते हैं और ज्ञात विभाग वाले गुण उद्भूत कहे जाते हैं, सृष्टि के पूर्व प्रकृति अवस्था में ये गुण अनुद्भूत होते हैं और बाद में महदादि कार्यावस्था में उद्भूत हो जाते हैं।

उद्भूत सत्त्वादि गुण कौन कौन से कार्य करते हैं, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं –

10.सत्त्वं ज्ञानसुखे तत्सङ्गञ्चोत्पादयति। रजः रागतृष्णासङ्गान् कर्मसङ्गाञ्चोत्पादयति। तमस्तु विपरीतज्ञानम् अनवधानमालस्यं निद्राञ्च जनयति।

अर्थ-

सत्त्वगुण ज्ञान और सुख को उत्पन्न करता है तथा उन दोनों में आसक्ति को उत्पन्न करता है। रजोगुण राग, तृष्णा, इच्छा और कर्म में आसक्ति को उत्पन्न करता है। तमो गुण तो विपरीत ज्ञान (भ्रम), प्रमाद, आलस्य और निद्रा को उत्पन्न करता है।

अब गुणों की साम्यावस्था और वैषम्यावस्था में होने वाले विकारों को कहते हैं –

11.एतेषां साम्यदशायां विकाराः समाः अस्पष्टाश्च भवन्ति। वैषम्यदशायां विकारा विषमाः स्पष्टाश्च भवन्ति।

अर्थ-

गुणों की साम्यदशा में विकार सम और अस्पष्ट होतें हैं। वैषम्यदशा में विकार विषम और स्पष्ट होते हैं।

व्याख्या-

प्रकृति का परिणामित्व स्वभाव है इसलिए वह किसी न किसी रूप में परिणाम को प्राप्त होती रहती है। प्रलय काल में प्रकृति के गुण साम्यावस्था में रहते है, तब इसके सम विकार (परिणाम) होते हैं, वे अस्पष्ट होते हैं अर्थात् नामरूप विभाग के अभाव वाले होते हैं किन्तु जब सृष्टिकाल में प्रकृति के गुण वैषम्यावस्था में रहते हैं, तब इसके विषम विकार होते हैं। वे विकार स्पष्ट अर्थात् नामरूपविभाग वाले होते हैं।

अब विषम विकारों का वर्णन आरम्भ किया जाता है –

12.विषमविकारेषु प्रथमो महान्। अयं सात्त्विक-राजसतामसभेदेन त्रिविधः, अध्यवसायजनकश्च। अस्माद् वैकारिक-तैजसभूतादिभेदेन त्रिविधोऽहंकार उत्पद्यते। अहंकारोऽभिमानहेतुः। एषु वैकारिकाच्छ्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणाख्यानि पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, मनश्चेत्येकादशे-न्द्रियाणि जायन्ते।

अर्थ-

विषम विकारों में प्रथम विकार महान् है। यह सात्त्विक, राजस, तामस भेद से 3 प्रकार का होता है और अध्यवसाय का जनक होता है। इस (महान्) से सात्त्विक, राजस और तामस भेद से 3 प्रकार वाला अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकार अभिमान का हेतु होता है। इन त्रिविध अहंकारों में वैकारिक अहंकार से श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण नाम वाली पञ्च ज्ञार्नेन्द्रियाँ, वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ नाम वाली पञ्च कर्मेन्द्रियाँ तथा मन इस प्रकार 11 इन्द्रियाँ उत्पन्न होती है।

व्याख्या-

महत्- प्रकृति के विषम विकारों में प्रथम विकार महान्(महत्) है। यह सात्त्विकादि भेद से 3 प्रकार का होता है। जिस में सत्त्व गुण अधिक होता है और अन्य दो गुण न्यून होते हैं, उसे सात्त्विक कहते हैं। जिस में रजो गुण अधिक और अन्य दो गुण न्यून होते हैं, उसे राजस कहते हैं तथा जिसमें तमोगुण अधिक और अन्य दो गुण न्यून होते हैं, उसे तामस कहते हैं।

महत् अध्यवसाय का जनक होता है। निश्चयात्मक ज्ञान को अध्यवसाय कहते हैं। सिद्धान्त में सभी वृत्तियाँ धर्मभूतज्ञान की होती है। निश्चयात्मिका वृत्ति में महत् सहकारी कारण होता है। निश्चयात्मिका बुद्धि का सहकारी होने से इसे बुद्धि भी कहा जाता है।

अहंकार- महत् से अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकार के भी सात्त्विकादि 3 भेद होते हैं। सात्त्विक, राजस और तामस को ही क्रमशः वैकारिक, तैजस और भूतादि कहते हैं। अहंकार अभिमान का हेतु होता है। देहात्मबुद्धि को अभिमान कहते हैं। उसका सहकारी कारण अहंकार होता है।

इन्द्रियाँ- सात्त्विक अहंकार से श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण (नाक) ये 5 ज्ञानेन्द्रियाँ, वाक् (वाणी) पाणि (हस्त) पाद, पायु (गुदा) और उपस्थ (सुखविशेष का जनक संभोग क्रिया का साधन) ये 5 कर्मेन्द्रियाँ तथा 11 वीं मन इन्द्रिय उत्पन्न होती है।

13.भूतादेः शब्दतन्मात्रं जायते। तस्मादाकाशः स्पर्शतन्मात्रञ्च जायते। तस्माद् वायुः रूपतन्मात्रञ्च जायते। तस्मात्तेजो रसतन्मात्रञ्च जायते। तस्माद् आपो गन्धतन्मात्रञ्च जायते। ततश्च पृथ्वी जायते।

अर्थ-

तामस अहंकार से शब्द तन्मात्रा उत्पन्न होती है। शब्द तन्मात्रा से

आकाश और स्पर्श तन्मात्रा उत्पन्न होती है। स्पर्श तन्मात्रा से वायु और रूप तन्मात्रा उत्पन्न होती है। रूप तन्मात्रा से तेज और रस तन्मात्रा उत्पन्न होती है। रस तन्मात्रा से जल और गन्ध तन्मात्रा उत्पन्न होती है। गन्ध तन्मात्रा से पृथ्वी उत्पन्न होती है।

व्याख्या-

कारण	**कार्य**
भूतादि (तामस अहंकार)	शब्दतन्मात्रा
शब्द तन्मात्रा	आकाश और स्पर्शतन्मात्रा
स्पर्श तन्मात्रा	वायु ओर रूपतन्मात्रा
रूप तन्मात्रा	तेज और रसतन्मात्रा
रस तन्मात्रा	जल और गन्धतन्मात्रा
गन्ध तन्मात्रा	पृथ्वी

शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गन्ध तन्मात्रा ये पाँच तन्मात्राएं होती हैं तथा आकाश, वायु, तेज, जल ओर पृथ्वी ये पाँच भूत होते हैं।

अब इस विषय में पूर्व मत की अपेक्षा मतान्तर कहा जाता है -

14.स्पर्शतन्मात्रप्रभृतीनि चत्वारि तन्मात्राण्याकाशादिभूत-चतुष्टयकार्यभूतानि, वाय्वादिभूतचतुष्टकारणभूतानि चेत्याहुः।

अर्थ -

स्पर्शतन्मात्रादि चार तन्मात्राएं आकाशादि चारभूतों के कार्य हैं और वायु आदि चार भूतों के कारण है, ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं।

व्याख्या -

कारण और कार्य इस प्रकार है-

कारण	कार्य	कारण	कार्य
आकाश से	स्पर्शतन्मात्रा	स्पर्शतन्मात्रा से	वायु
वायु से	रूपतन्मात्रा	रूपतन्मात्रा से	तेज
तेज से	रसतन्मात्रा	रसतन्मात्रा से	जल
जल से	गन्धतन्मात्रा	गन्धतन्मात्रा से	पृथ्वी

न्यायसिद्धाञ्जन और तत्त्वमुक्ताकलाप ग्रन्थ में यही मत वर्णित है।

15.तन्मात्राणि नाम भूतानां सूक्ष्मावस्था।

अर्थ-

भूतों की सूक्ष्मावस्था तन्मात्रा कहलाती है।

व्याख्या-

भूतों की उत्पत्ति से पूर्व उनकी सूक्ष्मावस्था वाला द्रव्य तन्मात्रा कहलाता है। जैसे आकाश की उत्पत्ति से पूर्व उसकी सूक्ष्मावस्था वाला द्रव्य शब्दतन्मात्रा कहा जाता है। वायु की उत्पत्ति से पूर्व उसकी सूक्ष्मावस्था वाला द्रव्य स्पर्शतन्मात्रा कहा जाता है। तेज की उत्पत्ति से पूर्व उसकी सूक्ष्मावस्था वाला द्रव्य रूपतन्मात्रा कहा जाता है। जल की उत्पत्ति से पूर्व उसकी सूक्ष्मावस्था वाला द्रव्य रसतन्मात्रा कहा जाता है। पृथ्वी की उत्पत्ति से पूर्व उसकी सूक्ष्मावस्था वाला द्रव्य गन्धतन्मात्रा कहा जाता है।

16.राजसाहंकारस्त्वन्ययोर्द्वयोरहंकारयोः स्वस्वकार्योत्पादने सहकारी भवति। सात्त्विकाहंकारः क्रमेण शब्दतन्मात्रादीनां सहकारेण श्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियाणि वागादिकर्मेन्द्रियाणि च सृजति। तत्सहकारं विनैव च मनः सृजति। केचित्तु कानिचिद् इन्द्रियाणि भूतकार्याण्याहुः, तत्तु शास्त्रविरुद्धम्, भूतानि केवलमाप्यायकानि।

अर्थ-

राजस अहंकार तो अन्य दो अहंकारो का अपना अपना कार्य उत्पन्न करने में सहकारी होता है। सात्त्विक अहंकार क्रम से शब्दतन्मात्रादि की सहायता से श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रिय और वागादि कर्मेन्द्रियों को उत्पन्न करता है और उनकी सहायता के विना ही मन की रचना करता है। कुछ विद्वान् तो कुछ इन्द्रियों को भूतों का कार्य कहते हैं किन्तु वह शास्त्रविरुद्ध है, भूत केवल उनके पोषक हैं।

व्याख्या-

सात्त्विक अहंकार और तामस अहंकार को अपना अपना कार्य उत्पन्न करने में राजस अहंकार सहायक होता है। सात्त्विक अहंकार और तामस अहंकार से जन्य कार्यों के प्रति क्रम से सात्त्विक और तामस अहंकार उपादान कारण होते हैं तथा राजस अहंकार सहकारी कारण होता है।

इन्द्रियाँ सात्त्विक अहंकार से जन्य होती हैं। सात्त्विक अहंकार शब्दतन्मात्रा की सहायता से श्रोत्र को, स्पर्शतन्मात्रा की सहायता से त्वक् को, रूपतन्मात्रा की सहायता से चक्षु को, रसतन्मात्रा की सहायता से रसना को और गन्धतन्मात्रा की सहायता से घ्राण इन्द्रिय को उत्पन्न करता है, इसी प्रकार वह शब्द तन्मात्रा की सहायता से वाक् को, स्पर्शतन्मात्रा की सहयता से पाणि को, रूपतन्मात्रा की सहायता से पाद को, रसतन्मात्रा की सहायता से पायु को और गन्धतन्मात्रा की सहायता से उपस्थ को उत्पन्न करता है तथा तन्मात्रा की सहायता के विना मन को उत्पन्न करता है।

न्यायवैशेषिकमत-

न्यायवैशेषिकमत में वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये कर्मेन्द्रियरूप से मान्य नहीं हैं क्योंकि उसके अनुसार वाग् आदि अपने आश्रय स्थान से अतिरिक्त नहीं हैं। घ्राण इन्द्रिय पृथ्वी का कार्य है, रसना इन्द्रिय जल का कार्य है, चक्षु इन्द्रिय तेज का कार्य है,त्वग् इन्द्रिय वायु का कार्य है और

कर्णविवर के अन्तर्गत रहने वाला आकाश ही श्रोत्र इन्द्रिय है - **घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः** (न्या.सू.1.12) इस प्रकार न्याय सूत्र में 5 ज्ञानेन्द्रियाँ भौतिक कही गयी हैं, इस मत में मन इन्द्रिय नित्य मानी जाती हैं। इस प्रकार न्यायवैशेषिक मत में 6 इन्द्रियाँ मान्य हैं।

शांकरमत- वेदान्तपरिभाषादि ग्रन्थों के अनुसार सत्त्वगुण से युक्त अपञ्चीकृत आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी से क्रमशः श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। अपञ्चीकृत भूतों के मिलित सात्त्विक अंश से मन की उत्पत्ति होती है और रजो गुण से युक्त उन्हीं आकाशादि भूतों से क्रमशः वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार शांकरमत में भी इन्द्रियाँ भौतिक मानी जाती हैं।

समीक्षा- इन्द्रियों को भौतिक मानने वाला पक्ष उचित नहीं है क्योंकि वे अहंकार से जन्य हैं। इन्द्रियाँ सदा पञ्चभूतों के द्वारा पोषित होती हैं - **आप्याय्यन्ते च ते नित्यं धातवैस्तैस्तु पञ्चभिः।** (म.भा.शां.184.43)। **आपोमयः प्राणः** (छां.उ.6.5.4) यह श्रुति जल के द्वारा प्राण का पोषण होने से प्राण को जलमय (आपोमय) कहती है। प्राण वायुविशेष है, भौतिक नहीं है किन्तु जल से प्राणों का पोषण होता है। तेज वाग् इन्द्रिय का पोषक है, इसलिए **तेजोमयी वाक्** (छां.उ.6.5.4) यह श्रुति भी वाक् को तेजोमयी कहती है। इस विवरण से सिद्ध होता है कि इन्द्रियों के पोषक भूत हैं। वे इन्द्रियों के जनक नहीं हैं। वाग् आदि कर्मेन्द्रियाँ मुखादि स्थानों मे रहती हैं, वे अपने आश्रयस्थान से भिन्न होती हैं, उनका आर्ष ग्रन्थों मे इन्द्रियरूप से स्पष्ट उल्लेख मिलता है अतः उन्हे भी इन्द्रिय स्वीकार किया जाता है।

17.एतेषां संहतिं विना कार्यकरत्वाभावात् मृत्तिकाबालुका- जलानि सम्मेल्य एकद्रव्यतामापाद्य तेन भित्तिनिर्माणवत् एतानीश्वर एकीकृत्य अण्डतामापाद्य तदन्तश्चतुर्मुखं सृजति।

अर्थ-

परस्पर में मिले विना भूतों का कार्यजनकत्व न होने से जिस प्रकार

मिट्टी, बालू और जल को मिलाकर एक द्रव्य बनाकर उससे दीवार का निर्माण होता है, उसी प्रकार ईश्वर पृथ्वी आदि भूतों को मिलाकर ब्रह्माण्ड का निर्माण करके उसके अन्दर ब्रह्मा की सृष्टि करता हैं।

व्याख्या-

जैसे मिट्टी, बालू और जल के मिश्रण के विना उनसे दीवार का निर्माण नहीं हो सकता है, वैसे ही पृथ्वी आदि भूतों के मिश्रण के विना उनसे ब्रह्माण्ड का निर्माण नहीं हो सकता है इसलिए जैसे मिट्टी आदि का मिश्रण करके एक द्रव्य तैयार करके उससे दीवार का निर्माण किया जाता है, वैसे ही श्रीभगवान् भूतों का मिश्रण करके उनसे ब्रह्माण्ड को बनाते हैं, इसके पश्चात् ब्रह्माण्ड[1] से ब्रह्मा जी को उत्पन्न करते है। ब्रह्मा जी के शरीर में भी महत्, अहंकार और एकादश इन्द्रियाँ होती हैं।

पृथ्वी आदि भूतों का पञ्चीकरण वेदान्त शास्त्र में प्रसिद्ध है। पाँचों को विशेष अनुपात में मिलाना ही पञ्चीकरण है। इसके पश्चात् व्यष्टि सृष्टि होती है।

18.अण्डमण्डकारणानि च स्वयमुत्पादयति। अण्डान्तर्गतानि वस्तूनि चेतनान्तर्यामी भूत्वा सृजति। अण्डानि चानेकानि चतुर्दशलोकयुतान्युत्तरोत्तरं दशगुणैस्सप्तभिरावरणैरावृतानीश्वरस्य क्रीडाकन्दुकस्थानीयानि जलबुदबुदवत् युगपत् सृष्टानि च भवन्ति।

अर्थ-

श्रीभगवान् ब्रह्माण्ड और उसके कारण की स्वयं रचना करते हैं। ब्रह्मा के अन्तर्यामी होकर ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत रहने वाली वस्तुओं की

....

टिप्पणी - 1. भगवान् ब्रह्मा की उत्पत्ति किससे करते हैं? यह शंका होने पर कहा जाता है कि ब्रह्माण्ड से ही उनकी उत्पत्ति करते हैं, अन्य किसी से नहीं। ब्रह्मा के शरीर में सकल जीव रहते हैं, वे सकल जीवों के समष्टिरूप है।

रचना करते हैं। चौदह लोकों से युक्त अनेक ब्रह्माण्ड होते हैं, वे उत्तरोत्तर दस गुना सात आवरणों से आवृत हैं, ईश्वर के क्रीडाकन्दुक के समान हैं और जल में उठने वाले बुलबुलों के समान युगपद् रचित होते हैं।

व्याख्या-

श्रीभगवान् स्वयं महत् से लेकर भूतपर्यन्त तत्त्वों की सृष्टि करते हैं फिर उन भूतों का पञ्चीकरण करते हैं। वे पञ्चीकृत भूत ब्रह्माण्ड के कारण हैं, उनके द्वारा ब्रह्माण्ड की रचना करते हैं। इसके पश्चात् ब्रह्मा के अन्तर्यामी होकर ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत आने वाले पदार्थों की रचना करते हैं। ब्रह्मा की उत्पत्ति पर्यन्त सृष्टि को अद्वारक सृष्टि या समष्टि सृष्टि कहा जाता है। बाद की सृष्टि को सद्वारक सृष्टि या व्यष्टि सृष्टि कहा जाता है।

एक ब्रह्माण्ड में भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्य ये सात ऊपर के लोक तथा अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल और पाताल ये सात नीचे के लोक होते हैं। ऐसे चतुर्दशलोक वाले अनेक ब्रह्माण्ड होते हैं। वे उत्तरोत्तर दश-दश गुना अधिक पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहंकार, और महत् इन सात आवरणों से आवृत होते हैं अर्थात् ब्रह्माण्ड अपने से दश गुना जल से आवृत है, वह अपने से दश गुना तेज से आवृत है। इसी प्रकार आगे भी जानना चाहिए।

ब्रह्माण्ड ईश्वर का क्रीडाकन्दुकस्थानी है अर्थात् जिस प्रकार क्रीडारत बालक की क्रीडा का उपकरण (साधन) खिलौना (कन्दुकादि) होता है, उसी प्रकार लीलारत भगवान की लीला का उपकरण यह ब्रह्माण्ड है। जैसे जल में अनेक बुलबुले एक साथ उठते हैं, उसी प्रकार भगवान् अनेक ब्रह्माण्डों को एक साथ रचते हैं।

अब भूत और इन्द्रियों के कार्य कहे जाते हैं -

19.भूतेषु मध्ये आकाशोऽवकाशहेतुः वायुर्वहनादिहेतुः, तेजः पचनादिहेतुः, जलं सेचनपिण्डीकरणादिहेतुः, पृथिवी धारणादिहेतुरित्याहुः। श्रोत्रादिनां पञ्चानां ज्ञानेन्द्रियाणां क्रमेण शब्दादिपञ्चकग्रहणकृत्यम्। वागादिनां पञ्चानां कर्मेन्द्रियाणां विसर्गशिल्पगत्युक्तयः

कृत्यानि। मनस्तु सर्वेषामेषां साधारणम्।

अर्थ-

भूतों के मध्य में आकाश अवकाश का हेतु है, वायु वहनादि का हेतु है, तेज पाक आदि का हेतु है, जल सेचन तथा पिण्डीकरणादि का हेतु है। पृथ्वी धारणादि करने का हेतु है। श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियों के क्रम से शब्दादि पाँच विषय के ज्ञान कार्य हैं। वागादि पाँच कर्मेन्द्रियों के वचन, शिल्प,गति और विसर्ग कार्य हैं। ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय के सभी कार्यों में मन सहायक है।

व्याख्या-

भूतों के कार्य-

आकाश का कार्य है-अवकाश प्रदान करना। पदार्थों की स्थिति और गति के लिए अवकाश की अपेक्षा होती है। वायु का कार्य है - वहन अर्थात् चलते रहना (प्रवहित होना) । इसके चलने से ही प्राणियों का जीवन सम्भव होता है। सुखाना भी इसका कार्य है। तेज का कार्य है - पाक। यह सूर्यरूप से शस्य आदि पदार्थों के पाक (जीर्णता) का हेतु है, अग्निरूप से भोजन के पाक (पकाने) का हेतु है और जाठराग्नि रूप से खाये पिये पदार्थों के पाक (पचाने) का हेतु है। प्रकाश भी तेज का कार्य है। जल का कार्य है- सिंचाई और पिण्डनिर्माण। शीतलता भी इसका कार्य है। पृथ्वी का कार्य है- धारण करना। स्थूलता भी इसी का कार्य है।

ज्ञानेन्द्रिय के कार्य-

श्रोत्र का कार्य है- शब्द का ज्ञान, त्वक् का कार्य है- स्पर्श का ज्ञान, चक्षु का कार्य है- रूप का ज्ञान, रसना का कार्य है- रस का ज्ञान, घ्राण का कार्य है- गन्ध का ज्ञान। इस प्रकार 5 ज्ञानेन्द्रियों के कार्य कहे गये, अब कर्मेन्द्रियों के कार्य कहे जाते हैं-

कर्मेन्द्रिय के कार्य-

वाक् का कार्य है- वचन अर्थात् बोलना। पाणि का कार्य है-

शिल्प अर्थात् कारीगरी, आदान-प्रदान भी इसके कार्य हैं। पाद का कार्य गति अर्थात् संचरण हैं। पायु और उपस्थ दोनों का कार्य विसर्ग (उत्सर्ग या त्याग) है, उनमें पायु का कार्य मल का विसर्ग है तथा उपस्थ का कार्य मूत्र और वीर्य का उत्सर्ग है।

मन के विना कोई कार्य नहीं होता है। वह ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय के सभी कार्यों का साधारण (सहकारी) कारण है।

ज्ञानेन्द्रियों के विषयरूप से कहे गये शब्दादि किसके गुण हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं -

20.आकाशादीनां भूतानां क्रमेण शब्दादयो गुणा भवन्ति। गुणविनिमयः पञ्चीकरणेन। आकाशे नैल्यप्रतीतिरपि तेनैव। पूर्वपूर्वतन्मात्रसहायेनोत्तरोत्तरतन्मात्राणि स्वविशेषान् उत्पादयन्तीति गुणाधिक्यमभवदित्यपि वदन्ति।

अर्थ-

भूतों के गुण-

आकाशादि भूतों के क्रम से शब्दादि गुण होते हैं। एक भूत के गुण का दूसरे भूत में समावेश पञ्चीकरण से होता है। आकाश में नील वर्ण की प्रतीति भी पञ्चीकरण से ही होती है। पूर्व पूर्व तन्मात्राओं की सहायता से उत्तरोत्तर तन्मात्राएं अपने कार्यों को उत्पन्न करती हैं, इसलिए उत्तरोत्तर भूतों में गुणों की अधिकता हो गयी। ऐसा भी कुछ विद्वान् कहते हैं।

व्याख्या -

भूत	गुण
आकाश	शब्द
वायु	स्पर्श
तेज	रूप
जल	रस
पृथ्वी	गन्ध

पञ्चीकरण प्रक्रिया से शब्दादि 5 गुण सभी भूतों के हो जाते हैं। जो नील[1]वर्ण है, वह पृथ्वी का है- **यत्कृष्णं तदन्नस्य** (छां.उ.6.4.1) वह नील वर्ण पञ्चीकरण से आकाश का हो जाता है। इस कारण **'नीलं नभः'** इस प्रकार आकाश में नील वर्ण की प्रतीति होती है, वह यथार्थ है। अभी आकाशादि प्रत्येक भूत का शब्दादि एक-एक गुण कहा गया। अब इसकी अपेक्षा मतान्तर का वर्णन किया जाता है-

शब्दतन्मात्रा से आकाश की उत्पत्ति होती है, इसका एक ही गुण शब्द है। शब्दतन्मात्रा की सहायता से स्पर्शतन्मात्रा से वायु की उत्पत्ति होती है। इसके शब्द और स्पर्श दो ही गुण होते है। शब्द और स्पर्श इन दो तन्मात्राओं की सहायता से रूपतन्मात्रा से तेज की उत्पत्ति होती है। इसके शब्द, स्पर्श और रूप तीन गुण होते हैं। शब्दादि तीन तन्मात्राओं की सहायता से रस तन्मात्रा से जल की उत्पत्ति होती है। इसके शब्द, स्पर्श, रूप और रस ये चार गुण होते हैं। शब्दादि चार तन्मात्राओं की सहायता से गन्ध तन्मात्रा से पृथ्वी उत्पन्न होती है, इसके शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच गुण होते हैं। आकाशादि भूतों में उत्तरोत्तर गुणों की अधिकता होती है, इसका कारण पूर्व पूर्व तन्मात्रा की सहायता से उत्तरोत्तर तन्मात्रा के द्वारा भूतों की उत्पत्ति है। इस मत में अहंकार से ही सभी तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है।

भूत	**गुण**
1. आकाश	शब्द
2. वायु	शब्द, स्पर्श
3. तेज	शब्द, स्पर्श, रूप
4. जल	शब्द, स्पर्श, रूप, रस
5. पृथ्वी	शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध

टिप्पणी - 1. गहरा (Dark) नील वर्ण ही कृष्ण वर्ण है, इसलिए शास्त्रों में नील और कृष्ण शब्द एक अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

पञ्चीकरण तो इस पक्ष में भी मान्य है। तभी आकाश में नील वर्ण की प्रतीति सम्भव है।

अचित् के तीन भेदों में शुद्धसत्त्व और मिश्रसत्त्व का वर्णन करके अब प्रसङ्गानुसार प्रस्तुत होने वाले काल का निरूपण किया जाता है -

21.सत्त्वशून्यं[1] नाम कालः। अयं च प्रकृतिप्राकृतानां परिणामहेतुः, कलाकाष्ठादिरूपेण परिणतः, नित्यः, ईश्वरस्य क्रीडापरिकरः शरीरञ्च।

अर्थ-

सत्त्व से रहित अचित् को काल कहते हैं। यह प्रकृति तथा प्राकृत पदार्थों के परिणाम का हेतु है। कला, काष्ठा आदि रूप से परिणाम को प्राप्त होने वाला है, नित्य है, ईश्वर की लीला का सहायक है और ईश्वर का शरीर है।

व्याख्या-

काल-

सत्त्वशून्य का अर्थ है- सत्त्व आदि तीनों गुणों से शून्य- **सत्त्वशून्यं सत्त्वादिगुणत्रयशून्यम् इत्यर्थः** (वर. भा.)। शुद्धसत्त्व में केवल सत्त्व रहता है, मिश्रसत्त्व में रज, तम से मिश्रित सत्त्व रहता है किन्तु काल में सत्त्व आदि तीनों गुण रहते ही नहीं, इसलिए सत्त्वशून्यत्व काल का लक्षण सम्भव होता है।

परिणाम का हेतु-

मिश्रसत्त्व प्रकृति पदार्थ है। इसके कार्य महदादि से लेकर भूतभौतिक प्राकृत पदार्थ हैं। इन सबका परिणाम किसी काल में ही होता है, इसलिए

....

टिप्पणी - 1. **सत्त्वगुणो रतस्तमसोः उपलक्षणम्** (वर. भा.)।

यह उनके परिणाम का हेतु है।

परिणाम-

काल का क्षण[1]रूप में तथा कलाकाष्ठादिरूप में परिणाम होता है। कलामुहूर्तादि के रूप में परिणत होने वाला काल है- **कलामुहूर्तादिमयश्च कालः** (वि.पु.4.1.84)।

नित्यत्व -

काल नित्य है, इसकी उत्पत्ति और विनाश नहीं होते हैं। अविनाशी काल मदात्मक (ब्रह्मात्मक)ही है- **अहमेवाक्षयः कालः** (गी.10.33), हे द्विज! भगवदात्मक काल अनादि है, इसका विनाश नहीं होता - **अनादिर्भगवान् कालो नान्तोऽस्य द्विज विद्यते।**(वि.पु.1.2.26)

जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय सब भगवान् की लीला ही है। यह किसी न किसी काल में होती है, इस प्रकार काल श्रीभगवान् की लीला का परिकर होता है

सम्पूर्ण जगत् भगवान् का शरीर है - **जगत् सर्वं शरीरं ते** (वा.रा. 6.117.25)। काल भी भगवान् का शरीर है। शरीर शरीरी आत्मा के अध ीन होता है, स्वतन्त्र नहीं होता। इस प्रकार काल भगवान् के अधीन सिद्ध होता है।

22.एतदन्यदुभयविधमचित् ईश्वरस्यात्मनश्च भोग्यभोगो-पकरणभोगस्थानभूतम्।

अर्थ-

काल से अन्य दोनों प्रकार के अचित् ईश्वर और जीवात्मा के

....

टिप्पणी - 1. आँख की पलक गिरने में जितना समय लगता है, उसे निमेष या क्षण कहते हें। 15 निमेष = 1 काष्ठा। 30 काष्ठा = 1 कला। 30 कला = 1 मुहूर्त। 30 मुहूर्त = 1 अहोरात्र (24 घण्टे)।

भोग्य, भोगोपकरण तथा भोगस्थानरूप होते हैं।

व्याख्या-

चेतन भोक्ता होता है। जीवात्मा और ईश्वर दोनों चेतन हैं। इनके भोग (अनुभव) के लिए मिश्रसत्त्व और शुद्धसत्त्व दोनों ही भोग्य, भोगोपकरण तथा भोगस्थानरूप होते हैं।

अब उक्त विषय को स्पष्ट किया जाता है -

23.भोग्यानि विषयाः, भोगोपकरणानि चक्षुरादिकरणानि, भोगस्थानानि चतुर्दशभुवनानि सर्वे च देहाः।

अर्थ-

विषय भोग्य हैं। चक्षु आदि इन्द्रियाँ भोग के उपकरण हैं, चतुर्दश भुवन और सभी शरीर भोग के स्थान हैं।

व्याख्या-

मिश्रसत्त्व भोग्य पदार्थ, भोगोपकरण (भोगसाधन) तथा भोग-स्थानरूप में परिणत होकर उपस्थित होता है। इन में जीवात्मा के भोग्य शब्दादि, माला, चन्दनादि तथा खाद्यपदार्थ आदि विषय हैं। उसकी चक्षु आदि इन्द्रियाँ भोग के उपकरण हैं। कर्मानुसार प्राप्त होने वाले सभी लोक तथा सभी प्रकार के देह भोग के स्थान हैं। इस प्रकार तत्त्वत्रय ग्रन्थ में प्रसङ्गानुसार केवल जीवात्मा के मिश्रसत्त्व सम्बन्धी भोग्य, भोगोपकरण तथा भोगस्थान का निरूपण किया गया। परमात्मा जब श्रीराम, श्रीकृष्णादि अवतार लेकर नरलीला करते हैं, तब लीला से ही जीव के समान शब्दादि तथा मालाचन्दनादि उनके भोग्य हो जाते हैं। उनका भोग शरीरेन्द्रियनिरपेक्ष होता है इसलिए उनके भोग के उपकरण इन्द्रियाँ नहीं हैं। शब्दादि के आश्रय के विना शब्दादि का भोग नहीं हो सकता है इसलिए शब्दादि विषयों के आश्रय पदार्थ भोग के उपकरण हैं। माला,

चन्दनादि रखने के पात्र भी भोग के उपकरण हैं। वे जिस स्थान पर रहकर सबका अनुभव करते हैं, वह उनका भोगस्थान होता है। अर्चावतार में भगवान् स्वतन्त्र होने पर भी अपने सौलभ्य गुण के कारण भक्त के अधीन रहते हैं। अर्चावतार का भोग्य नैवेद्य, पुष्पादि तथा भोग के उपकरण इनके आश्रय पात्रादि होते हैं। अर्चाविग्रह तथा मन्दिरादि भोग के स्थान होते हैं।

अप्राकृतधाम में नित्यसूरियों और मुक्तों का भोग्य भगवान् के स्वरूप, गुण और श्रीविग्रह होता है। श्रीभगवान् पर अर्पित चन्दन, पुष्प, वस्त्र, आभूषणादि के द्वारा उनका भोग (अनुभव या दर्शन) होता है इसलिए चन्दनादि भोगोपकरण हैं। नित्यसूरि और मुक्त मण्डप, प्रासाद, उद्यानादि स्थानों में रहकर उनका अनुभव करते हैं इसलिए वे भोगस्थान हैं। वहाँ श्रीभगवान् के भोग्य अप्राकृत शब्दादि और उनके आश्रय चन्दन, पुष्पादि होते हैं, चन्दनादि के आश्रय पात्र आदि भोग के उपकरण तथा मण्डप, प्रासाद और उद्यानादि उनके भोगस्थान होते हैं।

24.एषु प्राथमिकम् अचित्तत्त्वम् अधस्तनेनावधिना युक्तम्, परितस्तनेनोपरितनेन चावधिना विरहितम्। मध्यम् अचित् तत्त्वं परितस्तनेनाधस्तेनावधिना रहितम्। ऊर्ध्वावधिना युक्तं च। कालः सर्वत्रैकरूपो वर्तते।

अर्थ-

इन तीनों में प्रथम अचित् तत्त्व नीचे की ओर सीमा से युक्त है, चारों ओर तथा ऊपर की ओर सीमा से रहित है। मध्यम अचित् तत्त्व चारों ओर तथा नीचे की ओर सीमा से रहित है और ऊपर की ओर सीमा से युक्त है। काल सभी ओर एक समान हैं।

व्याख्या-

शुद्धसत्त्व, मिश्रसत्त्व और काल इन तीनों में प्रथम शुद्धसत्त्व नीचे की ओर सीमित है क्योंकि नीचे प्रकृतिमण्डल है। वह चारों ओर तथा ऊपर की ओर असीमित अर्थात् अनन्त (अपरिच्छिन्न) है, वहाँ उससे

अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। मिश्रसत्त्व चारों दिशाओं में तथा नीचे की ओर असीमित है और ऊपर की ओर सीमा से युक्त है क्योंकि ऊपर शुद्धसत्त्व है। काल दोनों सत्त्वों में समान रहता है, उसकी कहीं भी सीमा नहीं होती है, वह सब और असीमित होता है।

25.कालः परमपदे नित्यः, अत्रानित्यः इत्यप्याहुः। केचित्तु कालो नास्तीत्याहुः। प्रत्यक्षेणागमेन च तत्सिद्धेः नैवं वक्तुं शक्यते।

अर्थ–

काल परमपद में नित्य है, यहाँ अनित्य है, ऐसा भी कुछ विद्वान् कहते हैं। काल तो नहीं है, ऐसा कुछ विद्वान् कहते हैं। (किन्तु) प्रत्यक्ष और शास्त्र से काल की सिद्धि होने के कारण ऐसा नहीं कह सकते हैं।

व्याख्या–

सूरिगण जिसका सदा दर्शन करते रहते हैं, विष्णु का वह परमपद (त्रिपादविभूति) है– **तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः** (सु.उ. 6)। इस श्रुति से परमपद में काल की सदा विद्यमानता सिद्ध होती है। वहाँ सदा विद्यमान रहने के कारण काल नित्य है। परम पद में क्षण, कला, काष्ठा, मुहूर्तादिरूप से तथा वर्तमान, भूत और भविष्यरूप से काल का विभाग नहीं होता है। वहाँ काल सदा एकरूप रहता है किन्तु यहाँ प्रकृतिमण्डल में क्षण, कला, काष्ठादिरूप से विभाग होता है इसलिए यहाँ काल अनित्य है, ऐसा भी कुछ विद्वान् कहते हैं। काल के जो क्षणादिरूप विभाग होते हैं, वे स्वाभाविक नहीं हैं, अखण्ड काल ही भिन्न-भिन्न उपाधियों का संसर्ग होने पर क्षणादि शब्दों से कहा जाता है, अतः क्षणत्व आदि औपाधिक धर्म हैं। काल स्वाभाविक रूप से सभी जगह नित्य है।

काल नहीं है, ऐसा बौद्ध विद्वान् कहते हैं। उनके मत में काल वस्तुतः नहीं है, घटादि पदार्थ काल की कल्पना के निमित्त होते हैं। घट की उत्पत्ति-विनाश से क्षण (क्षणरूपकाल) कल्पित होता है और ऐसे

क्षणवाले घटादि क्षणिक कहे जाते हैं। वह उचित नहीं है क्योंकि काल की प्रत्यक्ष और शास्त्र प्रमाण से सिद्धि होती है। वेदान्त सिद्धान्त में काल का प्रत्यक्ष माना जाता है। इस काल में घट है – 'इदानीं घटः'। इस प्रकार वर्तमान काल वाले घट का प्रत्यक्ष होता है। चक्षु के द्वारा घट का तथा उसके विशेषणरूप से काल का भी प्रत्यक्ष होता है। घटः अस्ति इस प्रकार अस्तित्वविशिष्ट घट का प्रत्यक्ष होता है। अस्तित्व का अर्थ है- वर्तमान काल का सम्बन्ध। अतः काल का भी पदार्थ के विशेषणरूप से प्रत्यक्ष होता है। ब्रह्मा, दक्ष आदि प्रजापति, काल तथा समस्त प्राणी हरि की विभूतियाँ हैं, ये जगत् की सृष्टि का कारण हैं – **ब्रह्मा दक्षादयः कालस्तथैवाखिलजन्तवः। विभूतयोः हरेरेता जगतः सृष्टिहेतवः।** (वि. पु.1.22.31) जो काल पच्चीसवाँ तत्त्व है – **य कालः पञ्चविंशकः**(भा. 3.26.15) इत्यादि प्रमाणों से काल की सिद्धि होती है। इस प्रकार प्रत्यक्ष तथा शास्त्र प्रमाण से काल की सिद्धि होती है, अतः काल नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है।

26.दिङ्नामकमतिरिक्तं द्रव्यमस्तीति बहवः आहुः। बहुभिर्हेतुभिराकाशादावन्तर्भावसंभवात्तदपि न युज्यते।

अर्थ-

दिशा नाम वाला अतिरिक्त द्रव्य है, ऐसा वैशेषिक आदि विद्वान् कहते हैं। वह भी उचित नहीं है क्योंकि अनेक हेतुओं से दिशा का आकाशादि में अन्तर्भाव संभव होता है।

व्याख्या-

दिशा को अतिरिक्त द्रव्य मानने वाले विद्वान् कहते हैं कि उदयाचल के निकट जो दिशा है, वह पूर्व है, अस्ताचल के निकट जो दिशा है, वह पश्चिम है और सुमेरु पर्वत के निकट जो दिशा है, वह उत्तर है। सुमेरु से व्यवहित जो दिशा है, वह दक्षिण है- **उदयाचलसन्निहिता या दिक् सा प्राची। अस्ताचलसन्निहिता या दिक् सा प्रतीची। मेरोः सन्निहिता या दिक् सा उदीची। मेरोः व्यवहिता या दिक् सा अवाची।** इस पर

वेदान्तियों का कहना है कि उदयाचल के निकट जो आकाश है, वह पूर्व है, अस्ताचल के निकट जो आकाश है, वह पश्चिम है। सुमेरु पर्वत के निकट जो आकाश है, वह उत्तर है। सुमेरु पर्वत से व्यवहित जो आकाश है, वह दक्षिण है।

प्राच्यादि के व्यवहार का हेतु दिशा है, ऐसा जो वैशेषिक विद्वान् कहते हैं। वह भी उचित नहीं क्योंकि प्राच्यादिव्यवहार का हेतु आकाश है। इसी प्रकार प्राच्यादिव्यवहार का हेतु भूमि होती है। इस प्रकार दिशा का अन्तर्भाव आकाशादि में हो जाता है अतः अतिरिक्त दिशा की कल्पना व्यर्थ है।

27.आवरणाभाव एव आकाश इति केचिदाहुः। भावतया प्रतीयमानत्वान्न तदपि युक्तम्।

अर्थ-

आवरण का अभाव ही आकाश है, ऐसा बौद्ध विद्वान् कहते हैं। वह मत भी उचित नहीं है क्योंकि आकाश की भावत्वेन प्रतीति होती है।

व्याख्या-

'आव्रियते अनेन' इस व्युत्पत्ति के अनुसार आवरण शब्द का अर्थ स्थूल पदार्थ होता है। पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चारों स्थूल पदार्थ हैं। चार्वाक और बौद्धों के अनुसार पृथ्वी आदि चारों भूतों का अभाव ही आकाश है, अतिरिक्त पदार्थ नहीं है। वह उचित नहीं क्योंकि यहाँ पर पक्षी उड़ रहा है, इस प्रकार पक्षी के उड़ने के भावात्मक आधाररूप में आकाश की प्रतीति होती है। भावरूप वस्तु ही आधार हो सकती है, अभाव आधार नहीं हो सकता। भावत्वेन प्रतीति होने से आकाश भावरूप ही सिद्ध होता है।

28.अन्ये च केचिद् आकाशमेनं नित्यं, निरवयवं, विभुमप्रत्यक्षं चाहुः। भूतादेरुत्पत्त्या अहंकारादिष्वभावात् चक्षुषो विषयत्वाच्च न

तच्चतुष्टयं युक्तम्।

अर्थ-

कुछ विद्वान् इस आकाश को नित्य, निरवयव, विभु और अप्रत्यक्ष कहते हैं। आकाश का नित्यत्वादि चतुष्टय स्वीकार करना उचित नहीं है क्योंकि उस (आकाश) की भूतादि से उत्पत्ति होती है, अहंकारादि में व्याप्ति का अभाव होता है और चक्षु का विषय होता है।

याख्या-

नैयायिकवैशेषिकमत-

आकाश का नित्यत्वादि-

जिस पदार्थ की उत्पत्ति होती है, वह अनित्य और सावयव (अवयव वाला) होता है। आकाश की उत्पत्ति नहीं होती है, इसलिए वह नित्य और निरवयव (अवयव के अभाव वाला) होता है। आकाश सब जगह रहता है, इसलिए विभु है। उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है।

वेदान्तमत-

आकाश का अनित्यत्वादि-

'तन्मात्राणि नाम भूतानां सूक्ष्मावस्था' इस प्रकार पूर्व में भूतों की सूक्ष्मावस्था तन्मात्रा को कहा था। इसके अनुसार तन्मात्राओं की स्थूलावस्था भूत होते हैं अतः यहाँ भूतादेः का अर्थ (भूतादि = तामसाहंकार से जन्य) शब्दतन्मात्रा लेना चाहिए। शास्त्र शब्दतन्मात्रा से आकाश की उत्पत्ति का प्रतिपादन करते हैं इसलिए वह नित्य नहीं है, अनित्य है और सावयव है। जैसे आकाश की उत्पत्ति होने से वह सावयव सिद्ध होता है, वैसे ही पञ्चीकरण होने से भी सावयव सिद्ध होता है इसलिए आकाश नित्य है और निरवयव है, यह पक्ष खण्डित हो जाता है। विभु वस्तु सब में व्याप्त रहती है, यदि आकाश विभु होता तो महत्, अहंकार और शब्द तन्मात्रा में भी व्याप्त होता किन्तु ऐसा नहीं है, इससे सिद्ध होता है कि आकाश विभु नहीं है। आकाश नीला है, आकाश में पक्षी उडता है, इस प्रकार नीलवर्ण के अधिकरणरूप से और पक्षी के अधिकरणरूप से आकाश का प्रत्यक्ष

होता है, अतः वह अप्रत्यक्ष नहीं है।

29.वायुरप्रत्यक्ष इत्यप्ययुक्तम् त्वगिन्द्रियेण गृह्यमाणत्वात्।

अर्थ-

वायु अप्रत्यक्ष है, यह कहना भी अनुचित है क्योंकि उसका त्वग् इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है।

व्याख्या-

प्राचीन नैयायिक और वैशेषिक विद्वानों का मत है कि वायु का प्रत्यक्ष नहीं होता है। उसका अनुमान किया जाता है। यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि त्वग् इन्द्रिय से वायु का प्रत्यक्ष होता है।

अब तेज आदि के ज्ञातव्य अंशो को कहा जाता है -

30.तेजो भौमादिभेदेन बहुविधम्। तेष्वादित्यादितेजांसि स्थिराणि, दीपादितेजांस्यस्थिराणि। तेजसो रूपं रक्तम्, उष्णस्पर्शः। जलस्य रूपं शुक्लम्, शीतस्पर्शोमधुरश्च रसः। पृथ्व्या वर्णा रसाश्च बहुविधाः। स्पर्शस्त्वस्याः वायोश्चानुष्णाशीतः। एवमचित् त्रिविधं भवति।

अचित्प्रकरणं समाप्तम्।

अर्थ-

भौम आदि भेद से तेज अनेक प्रकारका होता है। उनमें आदित्यादि तेज स्थिर होते हैं और दीपादि तेज अस्थिर होते हैं। तेज का रक्त रूप होता है और उष्ण स्पर्श होता है। जल का शुक्लरूप होता है, शीतस्पर्श होता है और मधुर रस होता है। पृथ्वी के रूप और रस बहुत प्रकार के होते हैं किन्तु पृथ्वी और वायु का अनुष्णाशीत स्पर्श होता है। इस प्रकार अचित् तीन भेद वाला होता है।

व्याख्या-

तेज के तीन भेद होते हैं - 1.भौम, 2. दिव्य और 3.उदर्य। भूमि पर रहने वाले तेज को भौम कहते हैं। जैसे- दीप और अग्नि। आकाश में रहने वाले तेज को दिव्य तेज कहते हैं जैसे - सूर्य, चन्द्रादि। उदर में रहने वाले तेज को उदर्य कहते हैं, जैसे - जाठराग्नि । कुछ दार्शनिक सुवर्णादि को तेज मानते हैं किन्तु काठिन्य गुण का आश्रय होने से वे पार्थिव ही हैं, तेज नहीं, ऐसा आचार्यों का मत है।

जो अग्नि का लालरूप है, वह तेज का है- **यदग्नेः रोहितं रूपं, तेजसः तद्रूपम्।** (छां.उ.6.4.1) यह श्रुति तेज का रक्त रूप कहती है। तेज का उष्ण स्पर्श होता है। शुक्ल रूप, शीत स्पर्श और मधुर रस वाला जल होता है। रूप के 4 भेद होते हैं - शुक्ल, रक्त, कृष्ण और पीत - **तच्च शुक्लरक्तकृष्णपीतभेदम्** (न्या.सि.अ.) पृथ्वी में चारों प्रकार के रूप रहते हैं। रस के 6 भेद होते हैं - मधुर, अम्ल, लवण, कटु और कषाय। ये सभी रस पृथ्वी में रहते हैं। पृथ्वी और वायु का अनुष्णाशीतस्पर्श होता है। इस प्रकार तीन भेद वाला अचित् निरूपित होता है।

अचित् प्रकरण की व्याख्या समाप्त।

3. ईश्वर प्रकरण

चित् और अचित् का निरूपण करके अब ईश्वर का निरूपण करने के लिए प्रकरण आरम्भ किया जाता है–

1.ईश्वरोऽखिलहेयप्रत्यनीकानन्तज्ञानान्दैकस्वरूपज्ञानशक्त्यादि–कल्याणगुणगणविभूषितः, सकलजगत्सृष्टिस्थितिसंहारकर्ता, 'आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी' इत्युक्तचतुर्विधपुरुषाणामाश्रयणीयः, धर्मा–र्थकाममोक्षरूपचतुर्विधफलप्रदः, विलक्षणविग्रहयुक्तः, लक्ष्मीभूमि–नीलानायकश्च।

अर्थ–

ईश्वर अखिलहेयप्रत्यनीक, अनन्त तथा ज्ञानानन्दैकस्वरूप है, ज्ञान, शक्ति आदि कल्याणगुणगण से विभूषित है, सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहार करने वाला है, **'आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी'** (गी.7. 16)इस प्रकार कहे गये चार प्रकार के पुरुषों द्वारा आश्रय लेने योग्य है। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष रूप चारों प्रकार के फल प्रदान करने वाला है, विलक्षण विग्रह से युक्त है, लक्ष्मी, भूमि तथा नीलादेवी का नायक है।

ग्रन्थकार उपर्युक्त विषयों में प्रथम अखिलहेयप्रत्यनीकत्व की व्याख्या आरम्भ करते हैं –

2.अखिलहेयप्रत्यनीकत्वं नाम तमसस्तेजोवत् सर्पस्य गरुडवद् विकारादिदोषाणां प्रतिभटत्वम्।

अर्थ–

जैसे तम का विरोधी तेज होता है, सर्पका विरोधी गरुड होता है, वैसे ही विकारादि दोषों का विरोधी होना (ईश्वर का) अखिलहेयप्रत्यनीकत्व कहलाता है।

व्याख्या-

अखिलहेयप्रत्यनीकत्व -

अखिलशब्द चेतनगत क्लेशादि तथा अचेतनगत भावविकारादि हेय का बोधक है-**अखिलशब्दः चिदचिद्गतक्लेशादिभावविकारादिहेयपरः** (श.श्रु.भा.5)। मुमुक्षु उपासक जिसका त्याग करना चाहता है, उसे हेय कहते हैं। वह ब्रह्म के चिन्तन के अवरोधक क्लेश, कर्म, विपाक और आशय का त्याग करना चाहता है, इसलिए इन्हें हेय कहते हैं। अविद्या[1] अस्मिता[2] राग, द्वेष और अभिनिवेश (मृत्युभय) ये 5 क्लेश होते हैं - **अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः** (यो.सू.2.3)। पुण्य पाप कर्म हैं। जन्म[3], आयु और भोग विपाक हैं, वासनाएं आशय हैं। मुमुक्षु के चिन्तन के लिए उपयोगी परमात्मा के गुण उपादेय कहे जाते हैं और उससे भिन्न विकारादि हेय कहे जाते हैं। अचेतन में रहने वाले 1. उत्पत्ति 2. उत्पन्नावस्थारूप अस्तित्व 3. वृद्धि, 4. परिणाम, 5. क्षीणता, 6. विनाश ये 6 भाव विकार होते हैं, ये हेय हैं तथा अचेतन प्रकृति के सत्त्व, रज और तम गुण हेय हैं। प्रत्यनीक का अर्थ विरोधी होता है। जैसे तेज तम का विरोधी है, गरुड सर्प का विरोधी है, वैसे ही परमात्मस्वरूप सभी प्रकार के हेय पदार्थों का विरोधी है, इसलिए उनमें हेय रहते ही नहीं हैं। उनका हेयप्रत्यनीक स्वरूप होने से वे अचेतन तथा चेतन से विलक्षण सिद्ध होते हैं।

3.अनन्तत्वं नाम नित्यत्वे सति चेतनाचेतनव्यापकत्वे सत्यन्तर्यामित्वम्।

अर्थ-

नित्य होते हुए, चेतनाचेतन में व्याप्त होकर रहते हुए, अन्तर्यामी होना अनन्तत्व कहलाता है।

....

टिप्पणी - 1. अपने स्वरूप को न जानना अविद्या है।

2. अनात्मनि आत्मबुद्धिः अस्मिता। (भा.प्र.1.2.2)

3. नूतन देह के साथ आत्मा के सम्बन्ध को जन्म कहते हैं।

व्याख्या-

अनन्तत्व- 'नित्यत्वे सति चेतनाचेतनव्यापकत्वे सत्य- न्तर्यामित्वम्' यह अनन्त का लक्षण है। **सर्वकालवर्तमानत्वं हि नित्यत्वम्** (श्रीभा.1.1.1) अतीत, वर्तमान् और भविष्य इन सभी कालों में रहने वाली वस्तु को नित्य कहते हैं। भगवान् सभी कालों में रहने वाले हैं, इसलिए नित्य हैं, सभी काल में रहना ही उनका नित्यत्व है। परमात्मा नित्यों में नित्य है - **नित्यो नित्यानाम्** (क.उ.2.2.13)। परमात्मा नित्य है, विभु है, सर्वगत है - **नित्यं विभुं सर्वगतम्** (मु.उ.1.1.6) इत्यादि श्रुतियों से परमात्मा का नित्यत्व सिद्ध होता है। इस जगत् में जो भी पदार्थ दिखाई देता है, या सुनाई देता है। उस सभी को अन्दर और बाहर से व्याप्त करके नारायण स्थित है- **यच्च किंचिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः॥** (तै.ना.उ.94) व्यापक परब्रह्म चेतनाचेतन सभी वस्तुओं के अन्दर रहता है और सभी वस्तुओं के बाहर भी रहता है - **तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वास्यास्य बाह्यतः।** (ई.उ.5) इत्यादि श्रुतियों के अनुसार चेतन और अचेतन सभी में व्याप्त होकर रहने वाले भगवान् हैं। अन्दर स्थित होकर नियमन (शासन) करने वाले भगवान् अन्तर्यामी कहे जाते हैं। परमात्मा पृथिवी के अन्दर रहकर नियमन करता है - **यः पृथिवीमन्तरो यमयति** (बृ.उ.3.7.7)। परमात्मा आत्मा के अन्दर रहकर नियमन करता है - **य आत्मानमन्तरो यमयति।** (बृ.उ.मा.पा.3.7.36) इत्यादि श्रुतियों से भगवान् का अन्तर्यामित्व कहा जाता है। देशपरिच्छेद, कालपरिच्छेद और वस्तु परिच्छेद से रहित को अनन्त कहते हैं -

1. देशपरिच्छेद-

एक स्थान में रहने वाले पदार्थ का दूसरे स्थान में न रहना देशपरिच्छेद कहलाता है। घटादि एक स्थान में रहते हुए दूसरे स्थान में नहीं रहते हैं, अतः वे देशपरिच्छेद वाले (देश से परिच्छिन्न) कहे जाते हैं। आत्मा भी अणु होने से देशपरिच्छेद वाली है।

परमात्मा चेतनाऽचेतन सभी स्थानों में रहने के कारण देशपरिच्छेद से रहित (देशाऽपरिच्छिन्न) हैं। अनन्त के लक्षण में चेतनाचेतनव्यापकत्व पद से परमात्मा का देशपरिच्छेद से रहित होना कहा जाता है।

2. कालपरिच्छेद -

एक काल में रहने वाली वस्तु का दूसरे काल में न रहना कालपरिच्छेद कहलाता है। घटादि कार्य उत्पत्ति के पूर्व और विनाश के पश्चात् नहीं रहते हैं, अतः वे कालपरिच्छेद वाले (काल से परिच्छिन्न) होते हैं।

परमात्मा सभी कालों में रहने के कारण कालपरिच्छेद से रहित (कालाऽपरिच्छिन्न) हैं। लक्षण में नित्यत्व पद से परमात्मा का कालपरिच्छेद से रहित होना कहा जाता है।

3. वस्तुपरिच्छेद -

'यह यह (अमुक) नहीं है।' ऐसे व्यवहार की योग्यता वस्तुपरिच्छेद कही जाती है। एक वस्तु दूसरी वस्तु नहीं हो सकती है। 'घट पट नहीं हैं' 'पट घट नहीं हैं' इस प्रकार किये जाने वाले व्यवहार के योग्य घटादि हैं। ऐसे व्यवहार की योग्यतारूप वस्तुपरिच्छेद वाले (वस्तु से परिच्छिन्न) घटादि हैं।

परमात्मा अन्तर्यामीरूप से सभी में रहते हैं, इसलिए वे सभी शब्दों से कहे जाते हैं[1]। सब कुछ ब्रह्म है - **सर्वं खल्विदं ब्रह्म**। (छां. उ.3.14.1), सब कुछ वासुदेव है- **वासुदेवः सर्वम्** (गी.7.19) इसलिए घट ब्रह्म नहीं है, इत्यादि प्रकार से व्यवहार के योग्य ब्रह्म नहीं है। ब्रह्म में उक्त योग्यता का अभाव वस्तुपरिच्छेद का अभाव है। इस प्रकार ब्रह्म वस्तुपरिच्छेद से रहित(वस्त्वपरिच्छिन्न)सिद्ध होता है। वस्तुपरिच्छेद का अभाव ब्रह्म में हैं, इसलिए ब्रह्म घटादि सभी शब्दों से कहे जाते हैं। सर्वान्तर्यामित्व ही इनका वस्तु-अपरिच्छेद है। लक्षण में सर्वान्तर्यामित्व पद से ब्रह्म का वस्तुपरिच्छेद से रहित होना कहा जाता है। जिस प्रकार देश का

टिप्पणी - 1. एक शरीर का अन्तर्यामी जीवात्मा है, परमात्मा चेतनाऽचेतन सभी पदार्थों के अन्तर्यामी हैं इसलिए जैसे चैत्र(चैत्र शरीरवाला जीवात्मा) जानता है। यहाँ पर शरीर के वाचक चैत्रादि शब्द जीवात्मा का बोध कराते हैं,वैसे ही **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** (छां.उं.3.14.1) यहाँ चेतनाऽचेतन सभी पदार्थों (शरीरों) का वाचक सर्व शब्द परमात्मा का बोध कराता है।

अभाव होने से देश-अपरिच्छेद नहीं होता है, काल का अभाव होने से काल-अपरिच्छेद नहीं होता है, उसी प्रकार वस्तु का अभाव होने से वस्तु - अपरिच्छेद नहीं होता है। घटादि पदार्थ देश, काल और वस्तु इन तीनों से परिच्छिन्न (तीन परिच्छेद वाले) होते हैं। काल वस्तुपरिच्छन्न होता है। बद्ध, मुक्त और नित्य ये त्रिविध आत्मा देश से और वस्तु से परिच्छिन्न होती हैं। देश, काल और वस्तु से अपरिच्छिन्न ब्रह्म ही है।

4.अन्तर्यामित्वे सति किं दोषाः न प्रसज्येरन्? इति चेत् यथा शरीरगता बाल्यादिदोषा जीवात्मनि न प्रसज्यन्ते तथा त्रिविध चेतनाचेतनदोषा ईश्वरे न प्रसज्यन्ते।

अर्थ-

(ईश्वर का) अन्तर्यामित्व होने पर क्या (ईश्वर में) दोष (विकार) प्रसक्त (प्राप्त) नहीं होते हैं? यदि ऐसा (कहना चाहें) तो (उत्तर प्रस्तुत है) जैसे शरीर में विद्यमान बाल्यादि विकार जीवात्मा में प्रसक्त नहीं होते हैं, वैसे ही त्रिविध चेतन और अचेतन के विकार ईश्वर में प्रसक्त नहीं होते हैं।

व्याख्या-

शंका- अभी चेतन और अचेतन सभी के अन्दर रहकर नियमन करने वाले भगवान् अन्तर्यामी कहे गये थे। चेतन और अचेतन के अन्दर रहने से क्या उनके दोष ईश्वर में नहीं आते?

समाधान- भगवान् चेतनाचेतन सबके अन्तर्यामी हैं। अचेतन शरीर में बाल्यावस्था आदि विकार तथा उत्पत्ति आदि षड्भाव विकार होते हैं। जैसे- बाल्यावस्था, यौवनावस्था, वृद्धावस्थारूप विकार, उत्पत्त्यादि विकार तथा पङ्गुत्व, गौरत्व, श्यामत्व और स्थूलादि विकार शरीर में ही होते हैं। शरीर के अन्दर रहने वाले जीवात्मा में नहीं होते। वैसे ही भगवान् के शरीरभूत चेतन और अचेतन के विकार भगवान् में नहीं होते हैं। अचेतन शरीर का अन्तर्यामी होने पर उस के बाल्यावस्था आदि विकार

तथा उत्पत्त्यादि विकार ईश्वर में नहीं होते। बद्ध आत्मा कर्म के कारण शरीर में रहती है अतः उसमें शरीर के सम्बन्ध से सुख, दुःख होते हैं। अनुग्रह करने का स्वभाव होने के कारण कर्म न होने पर भी ईश्वर सभी में रहते हैं, इसलिए उनमें चेतनाचेतनरूप शरीर के सम्बन्ध से सुख-दुःख रूप विकार नहीं होते। मुक्त और नित्य में जगत् की सृष्टि आदि करने का असामर्थ्य रहता है, यह भी ईश्वर में नहीं रहता।

अनन्त की व्याख्या करते समय भगवान् का अन्तर्यामित्व भी कहा गया था। उसे लेकर होने वाली शंका का समाधान करके अब ज्ञानानन्दैकस्वरूप का वर्णन किया जा रहा है -

5.ज्ञानानन्दैकस्वरूपत्वं नाम आनन्दरूपज्ञानात्मकत्वम्। तच्च कार्त्स्न्येनानुकूलत्वे सति स्वयंप्रकाशत्वम्।

अर्थ-

ज्ञानानन्दैकस्वरूपत्व का अर्थ है- आनन्दरूपज्ञानात्मकत्व और वह पूर्णतः अनुकूल होते हुए स्वयंप्रकाशत्व है।

व्याख्या-

ज्ञानानन्दैकस्वरूप - भगवान् ज्ञानस्वरूप हैं। अनुकूल प्रतीत (ज्ञात या अनुभूत) होने वाला ज्ञान ही आनन्द कहलाता है। भगवान् का स्वरूपभूत ज्ञान सदा अनुकूल ही प्रतीत होता है, कभी भी प्रतिकूल प्रतीत नहीं होता इसलिए वह (ज्ञान) आनन्द कहा जाता है। अनुकूल (आनन्दरूप) ज्ञान के विषय जड भोग्य पदार्थ भी आनन्द कहे जाते हैं। केवल आनन्द कहने से उनका भी ग्रहण होता है, उनकी व्यावृत्ति के लिए ज्ञान कहा है। वे पदार्थ ज्ञान नहीं है। उनको आनन्द कहने पर भी ज्ञान नहीं कहा जाता है। ज्ञान तीन प्रकार का होता है - 1. अनुकूल ज्ञान (आनन्द), 2. प्रतिकूल ज्ञान (दुःख) 3. उदासीन ज्ञान। केवल ज्ञान कहने से प्रतिकूल और उदासीन ज्ञान का भी ग्रहण होता है, उसकी व्यावृत्ति के लिए आनन्द कहा है। व्यापक ब्रह्मस्वरूप में स्थान भेद से जडत्व हो, दुःखरूपत्व हो,

इसके निराकरण के लिए एक पद का प्रयोग किया गया है। ज्ञानानन्दैकस्वरूपत्व का अर्थ है- आनन्दरूपज्ञानात्मकत्व। (आनन्दरूप ज्ञान ही उसका स्वरूप है।) आनन्दरूपज्ञानात्मकत्व का अर्थ है- पूर्णतः (सब ओर से) आनन्दरूपता होते हुए पूर्णतः स्वयंप्रकाशता (ज्ञान) होना। जैसे सैन्धवघन (नमक का टुकडा) सब ओर से सैन्धव ही है। वैसे ही ब्रह्म सब ओर से आनन्दरूप ज्ञान ही है। आनन्दरूप ज्ञान ब्रह्म है - **विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म** (बृ.उ.3.9.28)।

सकलेतरविलक्षण परमात्मस्वरूप के प्रतिपादन के पश्चात् उसके आश्रित रहने वाले गुणों की विलक्षणता का प्रतिपादन करते हैं -

6.अस्य ज्ञानशक्त्यादिकल्याणगुणाः नित्याः, अनवधिकाः असंख्याः, निरुपाधिकाः, निर्दोषाः, समाधिकरहिताश्च।

अर्थ-

भगवान् के ज्ञानशक्ति आदि कल्याणगुण नित्य हैं, अवधि से रहित हैं, असंख्य हैं, स्वाभाविक हैं, दोष से रहित हैं तथा समानता और अधिकता से रहित हैं।

व्याख्या-

ज्ञानशक्त्यादिकल्याणगुण-

यहाँ पर आदि पद से बल, ऐश्वर्य, वीर्य, तेज, वात्सल्यादि तथा शौर्य आदि को ग्रहण किया जाता है। अब इनका क्रमशः विवरण प्रस्तुत है -

1. **ज्ञान** - भगवान् अतीत, वर्तमान और अनागत सभी पदार्थोंको युगपद जानते हैं, यही उनका ज्ञान गुण है। वे सर्वज्ञ हैं। जगतमें कोई भी वस्तु उनके द्वारा अज्ञात नहीं है।

2. **बल** - भगवान् विना किसी श्रमके सभी पदार्थोंको धारण करते हैं। किसी श्रमके विना सभी पदार्थोंको धारण करनेका सामर्थ्य ही उनका

बल है। भगवानने कृष्णावतारमें गोवर्धन को धारण करके, वराहावतारमें भूमि का उद्धार करके, कच्छपावतारमें मन्दराचलको धाारण करके इस गुणको व्यक्त किया है।

3. **ऐश्वर्य** - भगवान् चेतनाचेतनात्मक सम्पूर्ण जगतका नियमन करते हैं, इस कारण वे अन्तर्यामी कहे जाते हैं। उनका नियमन करनेका सामर्थ्य ही ऐश्वर्य गुण हैं।

4. **वीर्य** - भगवान् सबको धारण और नियन्त्रण करते हुए भी निर्विकार बने रहते हैं। निर्विकार बने रहनेका सामर्थ्य ही वीर्य गुण कहा जाता है।

5. **शक्ति** - भगवान्में अघटित घटना सामर्थ्य है। दूसरे लोग जिस कार्यको किसी भी प्रकार नहीं कर सकते हैं। भगवान् उस कार्य को अनायास कर देते हैं। यह अघटितघटनासामर्थ्य ही उनका शक्ति नामक गुण है। इस गुण के कारण ही भगवान् जगतके सभी प्रकारसे कारण हैं।

6. **तेज** - जो अपने अधीन न हो। भगवान् ऐसे किसी सहकारी कारणकी अपेक्षा न करके बड़े-बड़े बलवानोंको भी पराभूतकर देते हैं। दूसरोंको पराभूत करने (दबाकर रखने) का सामर्थ्य ही उनका तेज गुण हैं।

7. **सौशील्य** - भगवान्में यह एक स्वभाव है कि भगवान् सबसे सब दृष्टियों से बड़े होते हुए भी अत्यन्त नीच लोगोंके साथ भी मिलकर रहते हैं, वह भी अपने बड़प्पनको छिपाकर। भगवान् इस अभिप्रायसे ही बड़प्पनको छिपाये रहते हैं कि कहीं बड़प्पनको दिखाने पर ये भयभीत होकर भाग न जाएं। इस प्रकार भगवान् इन मन्द जीवोंके साथ निश्छलभावसे मिलकर रहते हैं। इस गुणको ही सौशील्य कहते हैं। भगवान् श्रीरामने निषादराज, शबरी, वानर और विभीषण इत्यादिसे मिलकर तथा श्रीकृष्णने मालाकार, कुब्जा, व्रजयुवती, गोपबालक और सुदामासे मिलकर इस दिव्यगुणको व्यक्त किया है।

8. **वात्सल्य** - भगवान्‌को अपने आश्रितों पर इतना प्रेम होता है कि वे उनके दोषों पर ध्यान ही नहीं देते हैं, दोषोंके भण्डार बने हुए भी जीव यदि भगवान्‌का आश्रय लेना चाहें तो भगवान् उनके दोषोंको ध्यान न देकर उनको अपनानेके लिए लालायित हो जाते हैं। जिस प्रकार गौ अपने नूतन उत्पन्न हुए वत्सके शरीरमें लगे हुए मलिन पदार्थको देखकर घृणा न करती हुई प्रेमसे चाटते हुए मलिन पदार्थको नष्ट कर उस बछड़ेको शुद्ध बना देती है, उसी प्रकार भगवान् भी आश्रित जीवोंके पाप इत्यादि दोषोंको देखकर घृणा न करते हुए अपने क्षमा इत्यादि गुणोंके द्वारा उन दोषों को नष्ट कर जीवोंको शुद्ध बनाकर अपनानेके लिए लालायित रहते हैं। भगवान्‌के इस दिव्यगुणको ही वात्सल्य कहते हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्रने विभीषणशरणागतिके प्रसंगमें **'दोषो यद्यपि तस्य स्यात्सतामेतदगर्हितम्'** (वा.रा.6.18.3)अर्थात् 'यदि विभीषणमें दोष हो तो भी, सन्तोंके लिये यह दोष गर्हित नहीं है' ऐसा कहकर तथा माता श्रीसीताजीने हनुमान्‌जीसे राक्षसियोंको बचाते हुए **'न कश्चिन्नापराधयति'** (वा.रा.6.113.45) अर्थात् जगत्‌में कोई भी जीव निरपराध नहीं, अपराधी जीवोंको भी अपनाना ही होगा। इस प्रकार कहकर इस महागुणको व्यक्त किया है। वात्सल्य गुण होनेसे भगवान्‌में क्षमा गुण भी सिद्ध होता है।

9. **मार्दव** - भगवान् आश्रितोंके विरहको नहीं सह सकते, अतएव आश्रितोंके साथ भगवान्‌का रहना अनायास सिद्ध हो जाता है। भगवान्‌के इस गुणको ही मार्दव कहते हैं। अत एव भगवान् श्रीरामचन्द्रने रावणसंहार होनेके बाद विभीषणजी के द्वारा स्नान इत्यादि करनेके लिए प्रार्थना किये जाने पर कहा कि - **तं विना कैकयीपुत्रं भरतं धर्मचारिणम्। न मे स्नानं बहुमतं वस्त्राण्याभरणानि च॥**(वा.रा.6.121.6)

10. **आर्जव** - भगवान् जैसा सोचते हैं वैसा बोलते हैं तथा करते भी हैं। इस प्रकार मन, वाणी और शरीरसे एक रूप होकर कार्य करना, इस गुणको ही आर्जव कहते हैं। भगवान्‌में यह महागुण विद्यमान रहता है। अतएव भगवान्‌की उक्तिको सुनकर किसीके भी मनमें यह शंका नहीं होती कि भगवान् प्रतारण करनेके लिए ऐसा कहते हैं। अत एव दुष्टा

शूर्पणखा के द्वारा पूछे जाने पर श्रीरामचन्द्रजी के द्वारा दिये जाने वाले उत्तरके विषयमें महर्षि वाल्मीकि कहते हैं **'ऋजुबुद्धितया सर्वं व्याख्या-तुमुपचक्रमे'**(वा.रा.3.17.14) अर्थात् सरल चित्त होनेके कारण श्रीरामचन्द्र जी अपना वृतान्त सही-सही कहने लगे। इस प्रकार कहकर महर्षि वाल्मीकि ने भगवान्के आर्जव गुणको व्यक्त किया है।

11. **सौहार्द** - भगवान् हृदयसे सबका भला चाहते हैं, इस महागुणको ही सौहार्द कहते हैं। भगवान्ने गीतामें **'सुहृदं सर्वभूतानाम्'** (गी.5.29)ऐसा कहकर अपनेको सर्वप्राणियोंका परमहितैषी व्यक्त किया है। इस सौहार्द गुणके कारण ही भगवान् जीवोंके द्वारा अज्ञात सुकृत को कराकर उनको निमित्त मानकर विशेष कृपाकटाक्ष करते हैं।

12. **साम्य** - भगवान् आश्रय लेनेके लिए उत्सुक सबको समान रूपसे आश्रय देते हैं तथा सब आश्रितोंके साथ समान रूपसे प्रेममय व्यवहार करते हैं। आश्रय लेने वाले चाहे जाति-गुण और आचरणकी दृष्टिसे श्रेष्ठ हों अथवा निकृष्ट हों, भगवान् इन बातों पर ध्यान न देकर उन सबको समान रूपसे आश्रय देते हैं। भगवान्ने गीतामें **'समोऽहं सर्वभूतेषु'** (गी.9.29)कहकर अपनी इस समताको व्यक्त किया है। श्रीरामचन्द्रजी ने महर्षि भरद्वाज तथा शबरीके यहाँ भी समान रूपसे खाया है। वानरराज सुग्रीव और रावण के भाई विभीषण दोनोंका समानरूपसे आदर किया है।

13. **कारुण्य** - भगवान् निःस्वार्थ होकर दूसरेके दुःखको हटाना चाहते हैं। इसी महागुणको ही करुणा और दया कहते हैं। भगवान् परमदयालु हैं। अतएव प्रलयकालमें पंखहीन पक्षीके समान देहेन्द्रियादिसे रहित जड़भावापन्न जीवोंको देखकर करुणासे ही सृष्टि करते हैं तथा जीवोंको देह और इन्द्रिय इत्यादि देते हैं। जीवोंके अज्ञानको दूर करनेके लिए तथा हित और अहितको समझनेके लिए वेदादिशास्त्रों को प्रदान करते हैं। अपार दयालु होनेके कारण ही रक्षाभार को स्वयं वहन करते हैं, शास्त्राज्ञाके अनुसार कार्य करने वाले याज्ञिक, उपासक और शरणागतोंको

अभिमत फल प्रदान करते हैं। बारम्बार जन्म लेकर जीवोंने दुर्वासना और दु:संस्कारोंको बढ़ा लिया है। उनकी दुर्वासना इत्यादिको दबानेके लिए ही भगवान् संहार करते हैं जिससे सम्पूर्ण प्रलयकालमें चुपचाप पड़े रहनेके कारण जीवोंके दु:संस्कार बहुत दब जाते हैं। इस प्रकार भगवान् करुणाके अधीन होकर सृष्टि, स्थिति और प्रलय करते हैं। करुणा ही भगवान्को जीवों पर अनुग्रह करनेके लिए प्रेरित करती है, इस प्रकार इस महागुणके कारण ही भगवान् जीवोंकेलिए लाभदायक सिद्ध होते हैं।

14. **माधुर्य** - भगवान् उपाय बनते समय तथा प्राप्य बनते समय भी जीवोंको परमभोग्य प्रतीत होते हैं। यही माधुर्य गुण है। दुग्ध पित्तरोगनिवृत्तिका साधन है क्योंकि दुग्ध पीनेसे पित्तरोग शान्त होता है, पित्तरोग वालोंके लिए दुग्ध उपाय बनता है, पित्तरोग की निवृति होने पर दुग्धपान स्वंय फल हो जाता है। उपाय बनते समय तथा स्वयं फल होते समय भी दुग्ध मधुर ही रहता है, उसी प्रकार भगवान्को उपाय मानने वाले तथा प्राप्य मानने वाले सबको भगवान् मधुर ही लगते हैं। भगवान् अत्यन्त मधुर हैं, इसलिए भगवदनुभवमें डूबे हुए साधकोंको विषयानुभवसे होने वाला सुख अत्यन्त तुच्छ प्रतीत होता है। जो भगवान्से द्वेष करते हैं, उनको मारनेके लिए जब भगवान् उनके समक्ष उपस्थित होते हैं, तब उनके मन और नेत्रका आकर्षण करते हुए भगवान् उनको भी मधुर ही लगते हैं फिर दूसरोंके लिए क्या कहना है? भगवान् सौन्दर्यनिधि तथा आनन्दमय होनेसे परम मधुर हैं।

15. **गाम्भीर्य** - भगवान् गम्भीर हैं इसलिए गम्भीर हैं कि कोई भी इन बातोंको नहीं समझ सकता कि भगवान् कैसे-कैसे भक्तों पर अनुग्रह करते हैं? भक्तों के मनोरथोंको कैसे-कैसे पूर्ण करते हैं? किस समयमें क्या करने वाले हैं? ये सब भगवान्की रहस्यमय बातें हैं। इन को बड़े-बड़े योगी लोग भी नहीं समझ सकते हैं। इसलिए भगवान् गम्भीर कहलाते हैं। भगवान् आश्रितोंके अपराधको जानते हुए भी न जानते जैसे रहते हैं, भगवान्से उन-उन अभिमत अर्थो का प्रतिग्रह लेने वालों में जो-जो दोष हैं, उन सबको जानते हुए भी भगवान् न जानने जैसा व्यवहार करते हैं। इस

कारणसे भी भगवान् गम्भीर कहे जाते हैं। भगवान् उन-उन कर्मों का फल भुगाते हुए अत्यन्त हितमें ही पर्यवसान कराते हैं, इस मर्मको समझना कठिन है, इसलिए भी भगवान् को गम्भीर कहते हैं और उनके उक्त स्वभावको गाम्भीर्य कहते हैं।

16. **औदार्य** - भगवान् उदार हैं। चाहे लेने वाले पात्र अत्यन्त निकृष्ट हों, तथा दिये जाने वाले पदार्थ अत्यन्त उत्कृष्ट हों, इन बातों पर ध्यान न देते हुए भगवान् किसी प्रत्युपकार पर भी दृष्टि न रखते हुए सर्वस्वका यहाँ तक कि स्वयंका भी वितरण करनेमें उसी प्रकार रसानुभव करते हैं, जिस प्रकार धार्मिक पिता पुत्रों को अपनी सम्पतिका वितरण कर प्रसन्न होते हैं। भगवान् अधिकाधिक वस्तुओंको देकर भी अधिक प्रसन्न नहीं होते हैं। वे भक्तोंको स्वस्वरूप देकर भी यही समझते हैं कि हमने कुछ नहीं किया। भगवान् लेने वालोंकी भी प्रतिष्ठा बढ़ाना चाहते हैं। अत एव भगवान्ने आर्त और अर्थार्थी भक्तोंको भी गीतामें **'उदारा सर्व एवैते'** (गी.7.18) इस प्रकार उदार कहकर उनकी प्रतिष्ठा बढ़ायी है। इन सब कारणोंसे भगवान् परमोदार कहे जाते हैं। भगवान्की उदारताके कारण ही जगत्की रक्षा होती है।

17. **चातुर्य** - भगवान् परम चतुर हैं। वे आश्रितोंके दोषोंको छिपाते हुए उनकी शंकाओंको दूर करते हुए बड़ी चतुराईसे उन्हें अपनाते हैं। यह चतुराई ही चातुर्य कही जाती है। भगवान्की चतुराईको कोई समझ नहीं सकता।

18. **स्थैर्य** - भगवान् स्थिर हैं। शरणागतोंको अपनानेके विषयमें अन्तरंग लोगोंसे दोष दिखाये जाने पर भी वे विचलित नहीं होते हैं, अनेक प्रकारसे उन अन्तरंगोंको समझाकर तथा राजी करके अन्तमें शरणागतोंको अपनाते ही हैं। यही उनकी स्थिरता है। भगवान्ने विभीषण शरणागतिके प्रसंगमें इस दिव्यगुणको व्यक्त किया है।

19. **धैर्य** - भगवान् इष्टजनोंके वियोगका प्रसंग उपस्थित होने पर भी अपनी प्रतिज्ञाको कभी नहीं छोड़ते, किन्तु प्रतिज्ञाको पूर्ण करनेमें ही

तत्पर रहते हैं। इसलिए धीर कहलाते हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्रने श्रीजानकीजीसे यह कहते हुए इस गुणको व्यक्त किया है कि हे श्रीजनकनन्दिनि, चाहे हम अपने प्राणोंको छोड़ दें, चाहें लक्ष्मणजीको तथा आपको भी छोड़ दें, यह सब सम्भावित है परन्तु प्रतिज्ञाको नहीं छोड़ सकते। विशेष कर ब्राह्मणोंके लिए प्रतिज्ञा करके उसे कभी नहीं छोड़ सकते- **अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम्। न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः॥** (वा.रा.3.10.18) अपनी प्रतिज्ञामें दृढ़ रहना ही धैर्य है। भगवान् इसलिए भी धीर कहे जाते हैं क्योंकि बलवान् शत्रुको भी तुच्छ समझकर अपने कार्यको सम्पन्न करते रहते हैं। भगवान्ने बलवान् शत्रु रावणके जीते रहते और समुद्रका लंघन न करने पर भी विभीषण को राजतिलक देकर इस गुणको व्यक्त किया है।

20. **शौर्य** - भगवान् शूर हैं। सहायहीन होते हुए भी भगवान् भयंकर शत्रुके सैन्यमें भी उसी प्रकार निर्भय होकर प्रवेश करते हैं। जिस प्रकार कोई अपने सैन्यमें निर्भय होकर प्रवेश करता है। श्रीरामचन्द्रजीने जनस्थानयुद्ध इत्यादि प्रसंगोंमें इस गुणको व्यक्त किया है।

21. **पराक्रम** - शत्रुओंके सैन्यमें घुसकर नाना प्रकारसे शत्रुओंका संहार करना पराक्रम है। श्रीरामचन्द्रने रावणके सैन्यका वध करते समय इस गुणको व्यक्त किया है। उस प्रसंग में भगवान् के पराक्रमका वर्णन करते हुए महर्षि वाल्मीकि ने कहा है कि राक्षसोंने श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा बाणोंसे छिन्न-भिन्न, दग्ध-भग्न तथा पीड़ित अपने सैन्यको देखा। अति शीघ्र इस कार्यको सम्पन्न करने वाले श्रीरामचन्द्रजीको नहीं देखा- **छिन्नं भिन्नं शरैर्दग्धां प्रभग्नं शस्त्रपीडितम्। बलं रामेण ददृशुर्न रामं शीघ्रकारिणम्॥** (वा.रा.6.93.22) ये दोनों गुण आश्रितोंके शत्रुओंको नष्ट करनेमें काम आते हैं।

22. **सत्यकाम** - भगवान् अपने तथा आश्रितोंके लिए अनन्त नित्य भोग्य पदार्थों को रखते हैं, इसलिए सत्यकाम कहलाते हैं।

23. **सत्यसंकल्प** - भगवान् सत्यसंकल्प हैं। उनका संकल्प न कभी व्यर्थ होता है, न दूसरे किसीसे प्रतिबद्ध ही होता है। भगवान् संकल्प मात्रसे ही अपने अवतार इत्यादि अपूर्व रूपोंकी सृष्टि करते हैं तथा जगत्की सृष्टि, स्थिति, प्रलय और मोक्षप्रदान इत्यादि कार्य करते हैं अत एव वे सत्यसंकल्प कहलाते हैं।

24. **कृतित्व** - भगवान् दूसरोंका उपकार करनेमें ही रत रहते हैं, इसलिए कृति कहलाते हैं और उनका उपकार करनारूप गुण कृतित्व कहलाता है। भगवान् 'अपि कश्चिन्मुमुक्षुः स्यात्' सृष्टि करने पर एकाध मुमुक्षु निकल आयेंगे। ऐसा सोचकर ही जीवोंके कल्याणार्थ जगत्की सृष्टि, स्थिति, प्रलय इत्यादि विराट कार्य करते हैं तथा श्रीराम, श्रीकृष्ण इत्यादि अवतारोंमें अपने लिए कुछ कर्तव्य न होने पर भी जीवोंके कल्याणार्थ ही वर्णाश्रम धर्मोंको उसी प्रकार करते रहते हैं जिस प्रकार बच्चेके स्वास्थ्यके लिए तन्दुरुस्त माता भी औषधका सेवन करती है। भगवान् दूसरोंका उपकार करके ही अपनेको कृतकृत्य मानते हैं। महर्षिवाल्मीकिजीने इस गुणको व्यक्त करते हुए कहा कि लंकामें विभीषणजीको राक्षसराजके रूपमें अभिषिक्त कर श्रीरामचन्द्रजी कृतकृत्य होते हुए निश्चिन्त होकर हर्षित हुए- **अभिषिच्य च लंकायां राक्षसेन्द्रं विभीषणम्। कृतकृत्यस्तदा रामो विज्वरः प्रमुमोद ह।।** (वा.रा.2.1.11)

25. **कृतज्ञता** - भगवान् कृतज्ञ हैं। यदि दूसरोंके द्वारा कोई अनुकूल कार्य सम्पन्न हो जाय तो भगवान् उसे कभी नहीं भूलते हैं, भले ही उत्तरकालमें उन लोगोंके द्वारा अत्यन्त अपकार क्यों न बन जायें। स्वयं भी अनन्त प्रत्युपकार क्यों न कर दिये हों तो भी भगवान् उस क्षुद्र उपकारका स्मरण करते ही रहते हैं, उस क्षुद्र उपकार के निमित्त उनके सम्बन्धी लोगों तककी रक्षा करनेके लिए उद्यत रहते हैं, इतना सब कुछ करके भी यही समझते रहते हैं कि हमने कुछ भी नहीं किया, हम अभी तक उऋण नहीं हुए हैं इत्यादि। रामायणमें दशरथ महाराजके दरबारमें श्रीरामचन्द्र भगवान्के कल्याणगुणोंका वर्णन करती हुई प्रजाने कहा कि - श्रीरामचन्द्र जी ज्ञानवान् होनेके कारण दूसरोंके द्वारा किये गये सौ अपकारोंका भी स्मरण

नहीं करते। किसीके किसी तरह सम्पन्न हुए एक उपकारसे भी अत्यन्त सन्तुष्ट होते हैं- **कथंचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति । न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवतया ॥**(वा.रा.2.1.11)। भगवान्में इतने ही गुण नहीं हैं बल्कि इसी प्रकार अनन्त महागुण हैं। इन गुणोंका अनुसन्धान करनेसे जीवोंको यह विश्वास होता है कि हम भगवान्का आश्रय ले सकते हैं, भगवान् हमको अवश्य अपनायेंगे, हमारी रक्षा अवश्य करेंगे।

ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति, तेज, सौशील्य, वात्सल्य, मार्दव, आर्जव, सौहार्द, साम्य, करुणा, माधुर्य, गाम्भीर्य, औदार्य, चातुर्य, स्थैर्य, धौर्य, शौर्य और पराक्रम आदि भगवान् के अनन्त कल्याणगुण हैं। इनमें ज्ञानादि षड्गुण प्रधान हैं। अनन्त कल्याणगुणोंमें कुछ गुण ज्ञानके विस्ताररूप हैं और कुछ शक्तिके विस्ताररूप हैं।

कल्याणगुण- भगवान् के ज्ञान, शक्ति आदि सभी गुण अनुकूलत्वेन ज्ञेय होने के कारण कल्याण अर्थात् मङ्गलमय कहे जाते हैं - **अनुकूलवेदनीयत्वात् सर्वे गुणाः कल्याणशब्दवाच्याः**।(ता.दी.) आनन्द अनुकूलत्वेन ज्ञेय होता है इसलिए यहाँ कल्याण का अर्थ आनन्द है। भगवान् के सभी गुण अनुकूलत्वेन ज्ञात होने के कारण आनन्दरूप ही हैं। भगवान् के गुण भगवान् को अनुकूलत्वेन अनुभूत होने के कारण आनन्द कहे जाते हैं और उनके ही गुण दूसरों को भी अनुकूलत्वेन अनुभूत होने के कारण कल्याण कहे जाते हैं- **आनन्दकल्याणशब्दौ स्वपरापेक्षया अनुकूलत्वं ब्रूतः** (श.ग.श्रु.भा.)। **स्वानुकूलत्वम् आनन्दत्वम्, अन्येषामप्यनुकूलत्वं कल्याणत्वम्** (भा.प्र.1.1.2)। आश्रित भक्तों के लिए परम भोग्य श्रीभगवान् के गुणों को कल्याणगुण कहते हैं - **गुणानां कल्याणत्वम् आश्रितानां परमभोग्यत्वम्** (वर.भा.)। आनन्दरूप वस्तु ही परम भोग्य होती है। ब्रह्मवेत्ता सर्वज्ञ ब्रह्म के साथ उनके कल्याण गुणों का अनुभव करता है - **सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।** (तै.उ.2.1.2) इस श्रुति से ब्रह्म के कल्याण गुण भी परम भोग्य ज्ञात होते हैं। कल्याणकारक अर्थात् मङ्गलजनक होने से भी उनके गुण कल्याण गुण कहलाते हैं। उनका चिन्तन करने से मोक्षपर्यन्त मङ्गल ही होता रहता है। जैसे दिव्य आभूषणों से परमात्मा के दिव्यमङ्गलविग्रह का आकर्षण और

भी बढ़ जाता है। वैसे ही कल्याण गुणों से परमात्म स्वरूप का आकर्षण और भी बढ जाता है। उनके कल्याण गुण अनन्त हैं, उसमें प्रत्येक के अनेक अवान्तर भेद हैं, अतः प्रत्येक गुण भी गण (समूह) का रूप लिए रहता है। श्रीभगवान् ऐसे कल्याणगुणों के समूह से युक्त हैं इसलिए वे कल्याणगुणगण विभूषित कहे जाते हैं। सृष्टि आदि कार्यों के लिए उपयोगी परमात्मा की स्वाभाविक पराशक्ति विविध प्रकार की सुनी जाती है। सर्वविषयक ज्ञान, जगत् को धारण करने का सामर्थ्य और जगत् का नियमन करनारूप कार्य विविध प्रकार का और स्वाभाविक सुना जाता है- **परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।** (श्वे.उ. 6.8) परमात्मा सम्पूर्ण कल्याणगुणों के आश्रय हैं - **समस्तकल्याण-गुणात्मकोऽसौ** (वि.पु.6.5.84)।

नित्य- उत्पत्ति-विनाश से रहित वस्तु को नित्य कहते हैं। परमात्मा के गुणों की उत्पत्ति और विनाश नहीं होते हैं, वे नित्य हैं। वे परमात्मा के स्वरूप से सम्बन्ध रखने वाले हैं, परमात्मस्वरूप सदा रहता है, इसलिए वे भी सदा रहते हैं। परमात्मा में रहने वाले ये गुण नित्य हैं- **त इमे सत्याः कामाः** (छां.उ.8.3.1)।

अनवधिक- श्रीभगवान् के गुणों की कोई अवधि (सीमा, इयत्ता या अन्त) नहीं है, उन का प्रत्येक गुण अवधि से रहित है। मन के सहित वाणी जिस ब्रह्मानन्द की अवधि को न पाकर जहाँ से लौट आती है, उस ब्रह्मानन्द को जानने वाला व्यक्ति कभी भी संसारभय को नहीं प्राप्त करता है - **यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन॥** (तै.उ.2.4.1) सौ गुना उत्तरोत्तर ब्रह्मानन्द की अवधि को कहने के लिए उद्यत होकर यह श्रुति उसकी अवधि का अभाव होने से ही अवधि को न पाकर वाणी और मन की वहाँ से निवृत्ति को कहती है। इसी प्रकार भगवान के सभी गुणों को अवधि से रहित जानना चाहिए।

असंख्य- श्रीभगवान् के गुण असंख्य (अगणित) हैं, उनकी गणना

नहीं की जा सकती है। हे पुत्र! जैसे समुद्र के असंख्य रत्न होते हैं, वैसे ही अनन्त परमात्मा के गुण भी असंख्य होते हैं - **यथा रत्नानि जलधेरसंख्येयानि पुत्रक। तथा गुणा ह्यनन्तस्याप्यसंख्येया महात्मनः** (वा.पु.4.40)।

निरुपाधिक- निरुपाधिक का अर्थ है- स्वाभाविक। श्रीभगवान् के ज्ञान, शक्ति आदि कल्याण गुण उपाधि के अधीन नही हैं अपितु स्वाभाविक हैं। परमात्मा की परा शक्ति विविध प्रकार की सुनी जाती है, वह स्वाभाविक है, उनका ज्ञान, बल और नियमन करने का सामर्थ्य स्वाभाविक है- **परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।** (श्वे.उ.6.8) श्रीभगवान् के गुण किसी के भी अधीन नहीं हैं। मुक्त और नित्यों के गुण ईश्वरेच्छारूप उपाधि (निमित्त) के अधीन हैं, वे निरुपाधिक नहीं हैं।

निर्दोष- ऊपर अखिलहेयप्रत्यनीकत्व की व्याख्या में हेय गुण का अर्थ किया जा चुका है। ईश्वर अखिलहेयप्रत्यनीक हैं इसलिए उनके गुणों में हेय गुणों का संसर्गरूप दोष नहीं है। अतः उनके गुण निर्दोष कहे जाते हैं। ईश्वर तेज, बल, ऐश्वर्य, सर्वविषयक ज्ञान, वीर्य, शक्ति आदि गुणों के आश्रय हैं और पर से पर हैं - **तेजोबलैश्वर्यमहावबोध सुवीर्यशक्त्यादिगुणैकराशिः। परः पराणां सकला न यत्र क्लेशादयस्सन्ति परावरेशे॥**(वि.पु.6.5.85) जिस ईश्वर में सत्त्वादि प्राकृत गुण नहीं हैं, वह समस्त शुद्धों से भी शुद्ध आदि पुरुष परमात्मा मुझ पर प्रसन्न हो- **सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः। स शुद्धः सर्वशुद्धेभ्यः पुमानाद्यः प्रसीदतु (वि.पु.1.9.44)।**

समाधिकरहित - एक आत्मा के गुण दूसरी आत्मा के गुणों के समान होते हैं और उन गुणों से अधिक ईश्वर के गुण होते हैं किन्तु ईश्वर के गुण के समान किसी के भी गुण नहीं होते हैं और उन के गुणों से अधिक किसी के गुण नहीं होते अर्थात् भगवान् के गुण समानता और अधिकता से रहित हैं। भगवान् के समान गुणों वाला कोई नहीं है और

उनसे अधिक गुणों वाला कोई नहीं है- **न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते** (श्वे.उ.6.8)।

अब भगवान् के त्रिविध गुणों के विषय का विभाग करके कहते हैं -

7.एषु वात्सल्यादीनां विषया अनुकूलाः, शौर्यादीनां विषयाः प्रतिकूलाः। एतत्कारणभूतज्ञानशक्त्यादीनां तु सर्वे विषयभूताः।

अर्थ-

ज्ञान, शक्ति आदि कल्याण गुणों में वात्सल्य आदि के विषय (भगवान् के ही आश्रित रहने वाले) भक्त हैं, शौर्यादि के विषय भक्तविरोधी हैं किन्तु दोनों गुणों के कारण ज्ञान, शक्ति आदि के विषय सभी हैं।

व्याख्या-

श्रीभगवान् के गुण तीन श्रेणियों में आते हैं- 1. ज्ञानशक्ति आदिगुण, 2.वात्सल्य आदि गुण 3.शौर्यादि गुण।

वात्सल्यादि गुणों के विषय- वात्सल्यादि यहाँ पर आदि पद से सौशील्य, सौलभ्य, मार्दव, आर्जव आदि गुणों का ग्रहण होता है। अपने आराध्य भगवान् को ही सर्वस्व मानकर आराधना करने वाले, उनके आश्रित भक्तजन सदा उनके अनुकूल ही रहते हैं। वात्सल्यादि के विषय अनुकूल हैं। सदा भगवान् के लिए अनुकूल रहने वाले भक्तों को अनुकूल कहते हैं। वात्सल्यादि के विषय भक्त होते हैं अर्थात् भक्तों के लिए वात्सल्य आदि गुण हैं। भगवान् के इन गुणों से भक्तों का अत्यन्त उपकार होता है।

शौर्यादि गुणों के विषय- शौर्यादि यहाँ आदि पद से पराक्रम आदि ग्रहण किये जाते हैं। भक्त के विरोधी को भगवान् अपना प्रतिकूल अर्थात् शत्रु मानते हैं। शौर्यादि के विषय भक्तविरोधी हैं अर्थात् भक्तविरोधि

यों के लिए उनके शौर्यादि गुण हैं।

ज्ञान शक्ति आदि गुणों के विषय- ज्ञान, शक्ति आदि छः गुणों के कार्य वात्सल्यादि तथा शौर्यादि हैं। इन ज्ञान, शक्ति आदि के विषय सभी हैं।

भगवान् अनुकूल भक्त की सब प्रकार से रक्षा करते हैं, इस कार्य में उपयोगी उनके वात्सल्यादि गुण हैं। वे भक्त के प्रतिकूल का संहार करते हैं, इसमें उपयोगी उनके शौर्यादि गुण हैं। भगवान् ज्ञान, शक्ति आदि गुणों से युक्त होने के कारण ही भक्तरक्षण और शत्रुसंहार करते हैं। इस प्रकार ज्ञानादि छः गुणों के विषय भक्त, अभक्त सभी होते हैं।

उक्त गुणों में कुछ गुणों के पृथक्-पृथक् विषयों को कहते हैं-

8.ज्ञानम् अज्ञानाम् उपयुक्तम्, शक्तिः अशक्तानाम्, क्षमा सापराधानाम्, कृपा दुःखिनाम्, वात्सल्यं सदोषाणाम्, शीलं मन्दानाम्, आर्जवं कुटिलानाम्, सौहार्द दुष्टानाम्, मार्दवं विश्लेषभीरूणाम्, सौलभ्यं दर्शनोत्सुकानाम्। एवमन्यान्यगुणोपयोगस्थलानि द्रष्टव्यानि।

अर्थ-

परमात्मा का ज्ञान गुण अज्ञानियों के (अनुसंधान के) लिए उपयुक्त है, शक्ति गुण असमर्थों के लिए उपयुक्त है, क्षमा गुण अपराधि यों के लिए उपयोगी है। कृपा गुण दुःखियों के लिए उपयोगी है, वात्सल्य गुण दोषियों के लिए उपयोगी है, शील गुण मन्दों के लिए उपयोगी है, आर्जव गुण कुटिलों के लिए उपयोगी है, सौहार्द गुण दुष्टों के लिए उपयोगी है, मार्दव्र गुण विश्लेष से भय करने वालों के लिए उपयोगी है और सौलभ्य गुण दर्शनार्थ उत्सुक रहने वालों के लिए उपयोगी है। इसी प्रकार अन्य गुणों के उपयुक्त स्थल का विचार कर लेना चाहिए।

व्याख्या-

ज्ञान गुण का अनुसंधान- अज्ञानी जीव यह नहीं समझता है कि

भगवान् से मिलने का साधन क्या है? उनसे मिलने में प्रतिबन्धक क्या है? उस प्रतिबन्धक की निवृत्ति कैसे होती है? ऐसे अज्ञानी के अनुसन्धान के लिए भगवान् का ज्ञान गुण उपयोगी है। ज्ञान गुण का अनुसन्धान करने वाला साधक समझता है कि भगवान् अपने मिलने के साधन को जानते हैं, अपनी प्राप्ति के प्रतिबन्धकों को जानते हैं, प्रतिबन्धक के निवर्तक को भी जानते हैं। अत: हमें चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है। वे ज्ञान गुण का अनुसंधान करने वाले साधक के प्रतिबन्धक को दूर करके अपनी प्राप्ति के उपाय स्वयं बन जाते हैं।

शक्ति गुण का अनुसंधान- जो साधक परमात्मा को परम प्राप्य समझता है किन्तु प्राप्ति के साधन भक्ति का अनुष्ठान करने में अपने को अशक्त समझता है, ऐसे साधक के अनुसंधान के लिए भगवान् का शक्ति गुण उपयोगी है। शक्ति गुण का अनुसंधान करने वाला साधक समझता है कि भगवान् सर्वशक्तिसम्पन्न हैं, वे अघटित घटना को भी घटित कर सकते हैं, संकल्प करके शीघ्र ही मुझे स्वप्राप्ति रूप मोक्ष को प्रदान कर सकते हैं। वे ऐसे अनुसंधाता साधक को शीघ्र ही मोक्ष के साधन भक्ति को प्रदान करते हैं।

क्षमा गुण का अनुसंधान- अपराध (पाप)) करने वाले का निग्रह (दण्ड) किया जाता है। भगवान् का क्षमा गुण निग्रह की निवृत्तिरूप है। निग्रह की निवृत्ति करना ही भगवान् का क्षमा गुण है। भगवान् श्रीरामचन्द्र क्षमा गुण के कारण कहते हैं कि- **कोटि विप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजऊँ नहिं ताहू॥ सनमुख होई जीव मोहीं जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥** (रा.च.मा. 5.43.1-2) अपराधी व्यक्ति के अनुसन्धान के लिए भगवान् का क्षमा गुण उपयोगी है। अनुसन्धाता व्यक्ति समझता है कि मैं घोर अपराधी हूँ, मेरे अपराधों का कोई अन्त नहीं किन्तु मेरे स्वामी अत्यन्त क्षमाशील है, वे मेरे अपराधों को क्षमा करके शीघ्र ही मुझे अपना लेंगे इसलिए भयभीत होकर दूर रहने की आवश्यकता नहीं है।

कृपा गुण का अनुसंधान- श्रीभगवान् का कृपा (कारुण्य या

दया) गुण दुःखी प्राणी के अनुसंधान के लिए उपयोगी है। कृपा गुण का अनुसंधान करने वाला साधक समझता है कि भगवान् विना किसी स्वार्थ के दूसरों का दुःख दूर करने के लिए उत्सुक रहते हैं। इस कारण यदि हम उनके शरणापन्न हो जाएं तो वे अवश्य ही हमारे दुःखों को दूर करके अभीष्ट फल की प्राप्ति करा देंगे।

वात्सल्य गुण का अनुसंधान-दोषी प्राणी के अनुसन्धान के लिए भगवान् का वात्सल्य गुण उपयोगी है। वात्सल्य गुण का अनुसन्धाता साधक समझता है कि भगवान् भक्तवत्सलता के कारण मेरे दोषों पर ध्यान न देकर मुझे अवश्य अपनायेंगे, अतः मुझे उनसे दूर रहने की आवश्यकता नहीं है। मुझे उनके सम्मुख होना चाहिए।

शील गुण का अनुसंधान- मन्द व्यक्ति के अनुसंधान के लिए उपयोगी भगवान् का शील (सौशील्य) गुण है। इस गुण का अनुसंधान करने वाला साधक समझता है कि भगवान् महान् से महान् होते हुए भी अत्यन्त मन्द (नीच) जीवों के साथ प्रेम से मिलजुलकर रहने में और उनकी इच्छा के अनुसार छोटा सा छोटा कार्य करने में संकोच नहीं करते हैं इसलिए पाण्डवों ने उन्हें अपना सारथी और दूत बनाया, अतः वे हम से भी मिलकर हमारे मनोरथ को अवश्य ही पूर्ण करेंगे।

आर्जव गुण का अनुसन्धान- कुटिल जीव के अनुसंधान के लिए भगवान् का आर्जव गुण उपयोगी है। इस गुण का अनुसन्धान करने वाला साधक समझता है कि मैं मनसा, वाचा, कर्मणा कुटिल हूँ, मन से कुछ सोचता हूँ, उससे विपरीत वचन बोलता हूँ और उससे विपरीत आचरण करता हूँ किन्तु मेरे स्वामी मनसा, वाचा, कर्मणा ऋजु (सरल) हैं। वे जैसा सोचते हैं, वैसा बोलते हैं और तदनुसार आचरण करते हैं। इस कारण मेरे हितैषी वहीं हैं, वे मेरी कुटिलता को दूर कर मुझे निर्मल बना देंगे।

सौहार्द गुण का अनुसन्धान- भगवान् का सौहार्द गुण दुष्टहृदय वालों के अनुसन्धान के लिए उपयोगी है। इस गुण का अनुसन्धान करने

वाला साधक समझता है कि मैं दुर्हृद हूँ, किसी का मङ्गल नहीं चाहता किन्तु भगवान् सुहृद हैं, वे हृदय से सभी का मङ्गल चाहते हैं, मेरा भी मङ्गल चाहते हैं इसलिए हमें उनसे विमुख नहीं रहना चाहिए अपितु दुर्भाव छोड़कर उनकी और उन्मुख हो जाना चाहिए। वे अपने दिव्य गुण से मेरा सर्वविध मङ्गल ही करेंगे।

मार्दव गुण का अनुसन्धान- जो भगवान् से सम्बन्धविच्छेद नहीं चाहते और इसकी शंका से ही भयभीत हो जाते हैं, ऐसे विश्लेषभीरु साधकों के अनुसन्धान के लिए मार्दव गुण उपयुक्त है। वह समझता है कि श्रीभगवान् मृदु हैं, वे अपने आश्रित जनों के विरह को नहीं सहन कर सकते, इसलिए वे सदा आश्रित भक्तों से मिलने के लिए आतुर रहते हैं और मिलकर कभी भी परित्याग नहीं करते।

सौलभ्य गुण का अनुसन्धान- भगवद्दर्शन करने के लिए उत्सुक साधक के अनुसन्धानार्थ सौलभ्य गुण उपयोगी है। वह अनुसंधाता समझता है कि बड़े बड़े योगीश्वरों को भी दुर्लभ श्रीभगवान् कभी कभी सामान्य जन को भी इतने सुलभ हो जाते हैं कि वे उसे दर्शन देने लगते हैं इसलिए भगवत्प्राप्ति दुर्लभ है, ऐसा समझकर निराश नहीं होना चाहिए। इसी रीति से भगवान् के अन्य गुणों के उचित अधिकारी का विचार करलेना चाहिए ।

उक्त गुणों से विशिष्ट होने के कारण ईश्वर अपने आश्रित भक्तों के लिए क्या क्या करते हैं? इसे कहते हैं -

9.इत्थम् ईश्वरः कल्याणगुणविशिष्टतया अन्येषां दुःखदर्शने सति हा! कष्टमित्यनुकोशन् सर्वदाप्येकरूपेण तेषां शुभं चिन्तयन् केवलं स्वार्थस्स्वपरोभयार्थश्च न भवन् चन्द्रिकामारुतचन्दनजलवत् केवल परार्थस्सन् स्वाश्रितानां जन्मज्ञानवृत्तनिबन्धापकर्षम् अपश्यन् तेषां सर्वथाप्यशरण्यदशायां स्वयं शरण्यो भवन् सान्दीपनिपुत्रस्य वैदिकपुत्राणां च प्रत्यानयनवद् अशक्यानि कार्याणि कृत्वाऽपि

तदपेक्षितानि पूरयन् तदर्थं ध्रुवपदवद् अपूर्वाणि च वस्तून्युत्पादयन् आत्मानम् आत्मीयं च ते यथा निजं निजं स्वयमेवोपयुञ्ज्महे इति भावयेयुस्तथा तेभ्यो प्रदाय तेषां कार्यसम्पादनेन स्वयं कृतकृत्यो भवन् स्वकृतं किमप्यस्मरन् तत्कृतसुकृतलवमेव च मनसि कलयन् अनादेः कालाद् रूढमूलवासनावासितानपि रसांस्ते यथा विस्मरेयुः, तथा तद्भोग्यभूतः भार्यापुत्रादीनां दोषेषु दृष्टेष्वप्यजानन्निव वर्तमानः पुरुषः तेषामपराधान् मनसाप्यस्मरन् प्रधानमहिष्या प्रदर्शितेष्वपराधेषु स्वयं तस्याः प्रतिपक्षीभूय निश्चलो रक्षन् कामिनीशरीरमलप्रणयी कामुक इव तेषां दोषान् भोग्यतयाऽङ्गीकृत्य तेषां विषये करणत्रयेणाप्यनुकूलः वियोगे सति तदीयः क्लेशः गोष्पदं यथा भवेत् तथा स्वयं क्लिश्यमानः तदानुकूल्याय स्वात्मानं नीचीकुर्वन् तेषां बन्धनताडनादियोग्यः सुलभो भवन् सद्यः प्रसूते वत्से स्नेहेन पूर्वप्रसूतं वत्सं यवसप्रदानार्थम् आगतांश्च शृङ्गाभ्यां खुरैश्च प्रहरन्ती धेनुरिव श्रियं देवीं सूरींश्चोपेक्ष्य तेषु स्निह्यन् वर्तते।

अर्थ-

ईश्वर ऐसे कल्याणगुणों से विशिष्ट होने के कारण दुःखी जनों के दुःख को देखने पर हा! कष्ट है, इस प्रकार कृपा करते हुए उनका सभी काल में समानरूप से शुभ चिन्तन करते हुए, केवल अपने प्रयोजन के लिए अथवा परस्पर के प्रयोजन के लिए न होते हुए, चन्द्रिका, वायु चन्दन और जल के समान केवल दूसरे के प्रयोजन के लिए होकर, स्वाश्रित जनों के जन्म, ज्ञान और आचरण मूलक नीचता को न देखते हुए, उनकी सब प्रकार से असहाय दशा में स्वयं सहायक होकर सान्दीपनि के पुत्र और वैदिक के पुत्रों के वापस लाने के समान असंभव कार्यों को करके भी उनकी अपेक्षित वस्तुओं को पूरा करते हुए और उनके लिए ध्रुवपद के समान अपूर्व वस्तुओं को उत्पन्न करते हुए 'अपने अपने भोग्य पदार्थों का हम स्वयं उपयोग कर रहे हैं।' इस प्रकार वे जैसे समझ सकें, वैसे उनको अपनी वस्तुओं को और अपने स्वरूप को भी देकर उनके कार्य करने से स्वयं कृतकृत्य होकर अपने किये उपकार का कुछ भी स्मरण न करते हुए और अपने आश्रित जन के शुभकर्म के

लेश का ही मन में निश्चय करके अनादि काल से प्रबल हुई वासनाओं से अनुभव किये गये विषयों को भी वे जैसे भूल जाएं, वैसे उनके भोग्य (अनुभाव्य) विषय होकर पत्नी-पुत्रादि के दोष देखने पर भी न देखने वाले मनुष्य के समान रहते हुए आश्रितजनों के अपराधों का मन से भी स्मरण न करते हुए पटरानी लक्ष्मी देवी के द्वारा (आश्रितजन के) दोष दिखाने पर भी स्वयं उन (लक्ष्मी जी) के दृढ प्रतिपक्षी बनकर (आश्रित जन की) रक्षा करते हुए कामिनी के शरीर की मलिनता से भी प्रेम करने वाले कामुक पुरुष के समान आश्रित भक्तों के दोषों को भोग्यरूप से स्वीकार करके उनके प्रति भी मनसा, वाचा, कर्मणा अनुकूल रहते हैं और (आश्रित जन का) वियोग होने पर उसका दु:ख जैसे अल्प हो जाए वैसे स्वयं दु:खी होकर उसकी अनुकूलता के लिए स्वयं को छोटा मानकर उनके बन्धन और ताड़ना आदि के योग्य बनकर सुलभ होकर रहते हैं। नवजात बछड़े के प्रति स्नेह के कारण पूर्व में उत्पन्न बछड़े और चारा देने के लिए आए हुए मनुष्यों पर सींग और पैर से प्रहार करने वाली गाय के समान श्रीभगवान् लक्ष्मी देवी और नित्यसूरियों की उपेक्षा करके अपने नूतन भक्त के प्रति स्नेह करते रहते हैं।

व्याख्या-

भगवान् के विविध गुणों के कार्य-

ऊपर जिन गुणों का वर्णन किया गया था, उन सभी से युक्त श्रीभगवान् हैं, इसलिए भक्तों के सर्वविध कार्यों को स्वयं सम्पन्न करते हैं - हा! बड़ा कष्ट है, यह विचार कृपा गुण का कार्य है। परदु:खासहिष्णु होने से भगवान् 'हा' इस प्रकार दु:ख को व्यक्त करते और उस की निवृत्ति के लिए प्रयासरत रहते हैं। सभी देश और सभी काल में समान रूप से आश्रित जनों के शुभ का चिन्तन करना सौहार्द गुण का कार्य है। 'भगवान् मेरा शुभ चिन्तन कर रहे हैं,' इस प्रकार आश्रित जनों के ज्ञान काल में और उससे भिन्न काल में भी श्रीभगवान् सौहार्द के कारण मङ्गल ही करते रहते हैं। कुछ व्यक्ति केवल अपने प्रयोजन के लिए दूसरे का कार्य करते हैं और कुछ अपने प्रयोजन के साथ दूसरे के प्रयोजन को ध्यान में रखकर कार्य करते हैं किन्तु इन दोनों से भिन्न चाँदनी, वायु,

चन्दन और जल हैं। ये केवल पर के ही प्रयोजन को सिद्ध करने वाले हैं, दूसरे के प्रयोजन को सिद्ध करना ही इनका स्वभाव है। इनके समान ही श्रीभगवान् हैं। आश्रित जनों के परतन्त्र होकर रहना उनका गुण है, इस कारण ही वे चन्द्रिका आदि के समान सदा परार्थ होकर रहते हैं। सामान्यजन जन्म, ज्ञान और आचरण को लेकर श्रेष्ठता और हीनता का निर्णय करते हैं किन्तु श्रीभगवान् इन कारणों से किसी को निम्न नहीं मानते। चाहे किसी का उच्च कुल में जन्म हुआ हो या निम्न कुल में, आचरणवान् हो या आचरणरहित हो, भगवान् किसी को भी निम्न नहीं मानते, इसका कारण साम्य गुण है इसलिए वे सभी को आश्रय देते हैं। संसार में कभी स्वकीय बन्धु किसी की सहायता करते हैं, कभी पराये लोग सहायता करते हैं किन्तु जब कोई भी सहयोग नहीं करता है, तब श्रीभगवान् स्वयं सहायक हो जाते हैं। वे सहायता किये विना रह ही नहीं सकते, इसका कारण उनका अशरण्यशरण गुण है। इस जगत् में कभी विविध प्रकार की सहायता करने वाले बहुत व्यक्ति मिल जाते हैं और वे यथासंभव उपकार करते हैं किन्तु मरे हुए सम्बन्धियों को वापस लाकर कोई नहीं देता किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण ने आचार्य सान्दीपनि के मृत पुत्र और द्वारकावासी वैदिक ब्राह्मण के मृत पुत्रों को परलोक से लाकर वापस कर दिया। ये कथाएं क्रमशः श्रीमद्भागवत स्कन्ध 10 पूर्वार्ध के अध्याय 45 में और उत्तरार्ध अध्याय 89 में वर्णित हैं, उसका कारण परमात्मा का सत्यकामत्व गुण है। उन्होंने उत्तानपाद के पुत्र भक्त ध्रुव के लिए पूर्व में अविद्यमान एक अपूर्व स्थान ध्रुव लोक की रचना की इस कार्य का हेतु उनका सत्यसंकल्पत्व गुण है। भगवदाश्रित जन 'हम अपनी ही भोग्य वस्तुओं का उपयोग कर रहे हैं।' ऐसा जिस प्रकार समझ सकें, उस प्रकार श्रीभगवान् अपनी वस्तुओं और अपने स्वरूप को भी सहज में दे देते हैं। इस कार्य में भगवान् का औदार्य गुण हेतु है। भगवान् आश्रितजनों का कार्य करके स्वयं को कृतकृत्य मानते हैं। यह कृतित्व गुण का कार्य है। भगवान् अपने द्वारा किये गये दूसरे के अनन्त उपकारों का कभी स्मरण नहीं करते और दूसरे के द्वारा किए गए किंचित् अनुकूल कार्य को कभी विस्मृत नहीं करते अपितु उसका स्मरण करते ही रहते हैं। यह उनके कृतज्ञता गुण का कार्य है। अनादिकाल से भोग्य विषयों को भोगने के कारण जिन विषयों

के भोग के संस्कार पड़ गये हैं, उन विषयों को वे जैसे पूर्णतः भूल जाएं, वैसे वे निरतिशय आनन्दरूप से उनके भोग्य (अनुभव के विषय) बन जाते हैं। यह उनके माधुर्य गुण का कार्य है। पत्नीपुत्रादि के दोषों को देखकर भी जैसे कोई न देखने वाले के समान रहता है, वैसे ही श्रीभगवान् भक्त के अपराधों को जानते हुए भी न जानने वाले के समान होकर रहते हैं। यह उनके चातुर्य गुण का कार्य है। श्रीलक्ष्मी देवी के द्वारा आश्रितजन के दोष प्रदर्शित किये जाने पर[1] भी भगवान् उनके पक्षपाती बनकर आश्रित की रक्षा करते हैं। यह उनके स्थैर्य गुण का कार्य है। जैसे स्त्रीलम्पट व्यक्ति उसके शरीर की मलिनता से भी प्रेम करता है वैसे ही श्रीभगवान् भक्त के दोषों को भोग्यरूप से स्वीकार करते हैं। यह परम प्रणयित्व (अनुराग) गुण का कार्य है। भगवान् भक्त के लिए मनसा, वाचा, कर्मणा अनुकूल होकर रहते हैं। यह उनके आर्जव गुण का कार्य है। भक्त के वियोग की अवस्था में उसका दुःख जैसे अल्प हो जाय, वैसे स्वयं दुःखी हो जाते हैं। यह मार्दव गुण का कार्य है। श्रीहनुमान ने सीता का अन्वेषण करके श्रीरामचन्द्र से उनका संदेश इस प्रकार कहा है कि हे दशरथ पुत्र! मैं एक मास जीवित रहूँगी, उसके बाद राक्षसों के वश में पढ़कर जीवित नहीं रह सकूँगी- **जीवितं धारयिष्यामि मासं दशरथात्मज। ऊर्ध्वं मासान्न जीवेयं रक्षसां वशमागता॥**(वा.रा.5.65.25) यह सुनकर उन्होंने कहा कि हे वीर हनुमान्! यदि जानकी जी एक मास तक जीवन धारण कर लेंगी तो वह चिरकाल तक जी रही हैं, मैं तो सीता का संदेश पाने के बाद उन के विना एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता - **चिरं जीवति वैदेही यदि मासं धरिष्यति। क्षणं वीर न जीवेयं विना तामसितेक्षणाम्॥** (वा.रा.5.66.10) इस प्रकार महर्षि वाल्मीकि ने श्रीरामभद्र के मार्दव गुण को व्यक्त किया है। भक्त की रुचि के अनुसार सर्वतन्त्र

....

टिप्पणी - 1. लक्ष्मी जी जगत् की माता है इसलिए सबका सब प्रकार से मङ्गल ही करती है, पापी जन के भी उद्धार के लिए भगवान् से अभ्यर्थना करती हैं। उनके अनुग्रह से ही जीव भगवान् को प्राप्त करता है। श्रीजी कदाचित् भगवान की परिक्षा के लिए ऐसा कहती है, यह श्रीलोकाचार्य स्वमी जी का अभिप्राय है।

स्वतन्त्र भगवान् उसके अधीन अपने स्वरूप को कर देते हैं, यह उनके सौशील्य (शील) गुण का कार्य है। भक्त के द्वारा बाँधने तथा ताडना आदि के योग्य होकर श्रीभगवान् सुलभ हो जाते हैं। इसीलिए माता यशोदा ने नवनीत चोरी करने पर श्रीकृष्ण को रस्सी से बाँधा और मिट्टी खाने पर ताड़ना दी। यह लीला भगवान् के सौलभ्य गुण का कार्य है। जैसे गाय बड़े बछड़े और चारा देने के लिए आए व्यक्ति की उपेक्षा करके नवजात बछड़े से स्नेह करती है, वैसे ही श्रीभगवान् लक्ष्मी जी और नित्य सूरियों की भी उपेक्षा करके नूतन आश्रित भक्त से स्नेह करते हैं। यह वात्सल्य गुण का कार्य है। इस प्रकार 'ईश्वर ज्ञानशक्ति आदि कल्याण गुणों से विभूषित हैं।' इस विषय का विस्तार से प्रतिपादन किया गया।

पूर्व में परमात्मा को सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय का कर्ता कहा था, अब उस विषय को स्पष्ट करने के लिए प्रकरण आरम्भ करते हैं -

10.अयमेव सर्वस्य जगतः कारणम्।

अर्थ-

यह ईश्वर ही सम्पूर्ण जगत् का कारण है।

व्याख्या-

जगत्कारण ब्रह्म-

यह जगत् सृष्टि के पूर्व काल में एक सत् ही था - **सदेव सोम्येदमग्र आसीत्।** (छां.उ.6.2.1), **ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्।** (बृ.उ.1. 4.10), **आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्।** (ऐ.उ.1.1.), **एको ह वै नारायण आसीत्।** (म.उ.1.1.) इत्यादि वाक्यों से कहे गये भगवान् ही जगत् के कारण हैं। महर्षि वेदव्यास ने **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** (ब्र.सू.1.1. 1.) सूत्र से जिज्ञास्य ब्रह्म को कहकर **जन्माद्यस्य यतः** (ब्र.सू.1.1.2.) सूत्र से जगज्जन्मादिकारणत्व ब्रह्म का लक्षण किया है। जिससे ये सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हुए प्राणी जिससे जीवित रहते हैं और प्रयाण को प्राप्त करते हुए जिसमें लीन हो जाते हैं, उसे जानो, वह ब्रह्म है- **यतो**

वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद् विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति। (तै.उ.3.1.2) वे ही समष्टि, व्यष्टि सम्पूर्ण जगत् के कारण हैं।

अब परमाणुओं को जगत्कारण मानने वाले पक्ष को प्रस्तुत करके निराकरण किया जाता है-

11.केचित् परमाणून् कारणमाहुः परमाणुसद्भावे प्रमाणाभावात् श्रुतिविरोधाच्च तदयुक्तम्।

अर्थ-

कुछ विद्वान् परमाणुओं को जगत् का कारण कहते हैं, वह उचित नहीं है क्योंकि परमाणुओं के अस्तित्व में प्रमाण नहीं है और श्रुति से विरोध है।

व्याख्या-

परमाणुकारणवाद -

बौद्ध, जैन और नैयायिक-वैशेषिक विद्वान् परमाणुओं को जगत का कारण मानते हैं। उनमें बौद्ध और नैयायिक-वैशेषिक मत में पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार भूतों के परमाणु होते हैं और वे ही जगत् के कारण हैं। बौद्ध मत में परमाणु उत्पत्ति-विनाश वाले हैं और नैयायिक -वैशेषिक मत में नित्य हैं। जैन मत में परमाणु अनेकान्त अर्थात् अव्यवस्थित स्वभाव वाले हैं और अन्य मतों में व्यवस्थित स्वभाव वाले हैं। जैन और बौद्ध मत में केवल परमाणु जगत् के कारण हैं और कोई नहीं। नैयायिक-वैशेषिक मत में परमाणु उपादान कारण हैं और ईश्वर निमित्त कारण है।

निराकरण- परमाणुकारणवाद उचित नहीं है क्योंकि परमाणुओं के होने में कोई प्रमाण नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमाण से उनका सद्भाव सिद्ध नहीं होता और श्रुति प्रमाण से भी सिद्ध नहीं होता। यदि कहना चाहें कि अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है तो यह भी उचित नहीं क्योंकि दोषरहित अनुमान को ही प्रमाण माना जाता है। परमाणु के अस्तित्व का साधक

अनुमान श्रुति प्रमाण से बाधित हो जाता है। इस प्रकार बाध दोष से युक्त होने के कारण वह प्रमाण नहीं हो सकता है। **सदेव सोम्येदमग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम् तदैक्षत्, बहु स्यां प्रजायेय।** (छां.उ.6.2.1) इत्यादि अनेक श्रुतियाँ ब्रह्म को ही जगत्कारण कहती हैं। परमाणु को कारण मानने वाले मत का ब्रह्म को कारण मानने वाली श्रुतियों से विरोध भी है।

इसके बाद स्वतन्त्र प्रधान जगत् का कारण है, इस सांख्य मत को प्रस्तुत करके निराकरण करते हैं-

12.कापिलास्तु प्रधानं कारणमाहुः, प्रधानस्याचेतन त्वादीश्वरा-धिष्ठानाभावे परिणामासम्भवात् सृष्टिसंहारव्यवस्थाऽसंभवाच्च तदप्य-युक्तम्।

अर्थ-

कपिल के अनुयायी तो प्रधान (प्रकृति) को जगत्कारण कहते हैं, वह भी उचित नहीं क्योंकि प्रधान का अचेतनत्व होने के कारण ईश्वर से प्रेरित न होने पर (प्रधानका) परिणाम संभव नहीं है तथा सृष्टि और संहार की व्यवस्था संभव नहीं है।

व्याख्या-

प्रधानकारणवाद-

कपिल मुनि सांख्य शास्त्र के प्रवर्तक आचार्य हैं। उनके अनुयायी विद्वान् स्वतन्त्र, त्रिगुणात्मक, जड़ प्रधान को जगत् का कारण कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ सुख, दुःख और मोह का जनक होता है। सुख, दुःख और मोह के कारण क्रमशः सत्त्व, रज और तम होते हैं। इस प्रकार यह जगत् कार्य त्रिगुणात्मक सिद्ध होता है इसलिए इसका कारण त्रिगुणात्मक प्रध ान ही है, ब्रह्म नहीं। त्रिगुणात्मक प्रधान का ही जगत्रूप में परिणाम होता है। ऐसा सांख्य विद्वानों का मत है।

निराकरण-

सांख्यमत उचित नहीं है क्योंकि प्रधान अचेतन है, अतः उसकी

सृष्टि करने में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। अचेतन की स्वयं प्रवृत्ति न होने पर भी चेतन से प्रेरित होने पर प्रवृत्ति होती है। वर्तमान में प्रचलित सांख्य निरीश्वरवादी है, इस में चेतन ईश्वर को स्वीकार नहीं करते हैं। अतः प्रेरक चेतन का अभाव होने से प्रधान उससे प्रेरित नहीं होता है, इसलिए जगत् को उत्पन्न नहीं कर सकता है। प्रधान अचेतन है इसलिए चेतन ईश्वर से प्रेरित न होने पर उस (प्रधान) का जगत्रूप में परिणाम संभव नहीं है।

यदि सांख्य ऐसा कहना चाहे कि सृष्टि करना (परिणाम को प्राप्त होना) प्रधान का स्वभाव है अतः ईश्वर के न होने पर भी उससे सृष्टि होगी तो यह भी उचित नहीं है क्योंकि सृष्टि उसका स्वभाव होने पर सदा सृष्टि ही होती रहेगी, संहार नहीं होगा। इस प्रकार स्वतन्त्र प्रधान को जगत्कारण मानने पर सृष्टि और संहार की व्यवस्था भी संभव नहीं होती है।

अचेतन प्रधान के जगत्कारणत्व का निराकरण करके अब चेतन जीव के जगत्कारणत्व का निराकरण करते हैं-

13.कर्मपरतन्त्रतया दुःखितया च चेतनोऽपि न कारणं भवितुम् अर्हति।

अर्थ-

चेतन जीव भी (जगत् का) कारण नहीं हो सकता है क्योंकि उसकी कर्माधीनता तथा दुःखित्व है।

व्याख्या-

ब्रह्मा आदि देवता भी जगत् के कारण नहीं हो सकते हैं क्योंकि वे भी कर्म के अधीन हैं। संसारी जीव कर्म के अधीन रहता है। अत्यधिक सुकृत होने से परमात्मा ने ब्रह्मा आदि को आधिकारिक पदों पर नियुक्त किया है। कर्म के कारण इनका ज्ञानगुण संकुचित रहता है, इसलिए वे अल्पज्ञ होते हैं, जगत् की सृष्टि सर्वज्ञ ब्रह्म ही कर सकता है, अल्पज्ञ

जीव नहीं कर सकता। ब्रह्मा आदि दुःखी होते भी देखे जाते हैं। देवताओं के पुण्य अधिक होते हैं, पाप कम होते हैं। पुण्य की अधिकता से वे देवता होते हैं किन्तु पाप के कारण देवता होने पर भी दुःखी होते हैं। जो स्वयं कर्म के अधीन है और दुःखी है, वह जगत्कारण नहीं हो सकता है।

14.तस्मादीश्वरः एव जगतः कारणम्।

अर्थ-

उससे ईश्वर ही जगत् का कारण सिद्ध होता है।

व्याख्या-

परमाणु, प्रधान तथा जीव ये तीनों ही जगत् के कारण संभव न होने से ईश्वर ही जगत् के कारण सिद्ध होते हैं।

अब ईश्वर के जगत्कारण होने में हेतु कहा जाता है-

15.अस्य च कारणत्वं नाविद्याकर्मपरनियोगादिहेतुकम्, अपितु स्वेच्छाप्रयुक्तम्।

अर्थ-

ईश्वर का जगत्कारणत्व, अविद्या, कर्म तथा दूसरे की प्रेरणा आदि के कारण नहीं है अपितु स्वेच्छा से है।

व्याख्या-

अविद्या का अर्थ है- आत्मस्वरूप और परमात्मस्वरूप को न जानना। पुण्य-पाप कर्म हैं, दूसरे के द्वारा की जाने वाली प्रेरणा परनियोग है। इस संसार में विविध प्राणी विविध प्रकार के कर्मों को करते रहते हैं। उनके करने में अविद्या, कर्म, परप्रेरणा तथा विषयप्रावण्य हेतु होते हैं। तिर्यग् जीवों के सृष्टिकारणत्व (सन्तानोत्पादकत्व) में अविद्या मुख्य हेतु है। शास्त्र की मर्यादा का पालन करने वाले मनुष्यों के सृष्टिकारणत्व में

कर्म मुख्य हेतु है। ब्रह्मा आदि आधिकारिक पुरुषों के सृष्टिकारणत्व में ईश्वर की प्रेरणा प्रधान हेतु है। ईश्वर के सृष्टिकारणत्व में कोई भी हेतु नहीं है, इसमें उनकी इच्छा (संकल्प) ही हेतु होती है।

ईश्वर को विशाल जगत् की सृष्टि करने में बहुत प्रयत्न करना होगा? इस शंका का उत्तर तथा सृष्टि का प्रयोजन कहा जाता है।

16.संकल्पमात्रेण करणाज्जगत्सृष्टिर्नायासाय भवति। अस्याः प्रयोजनं लीलैव केवलम्, तर्हि संहारदशायां लीलाया भंगः स्यादिति चेन्न संहारस्यापि लीलात्वात्।

अर्थ-

संकल्पमात्र से (जगत् की सृष्टि) करने के कारण प्रयास से जगत्सृष्टि नहीं होती है। सृष्टि का प्रयोजन केवल लीला ही है तो संहार दशा में लीला का अभाव हो जाएगा, यदि ऐसा कहें तो उचित नहीं है क्योंकि संहार भी लीला है।

व्याख्या-

परमात्मा ने संकल्प किया कि मैं बहुत हो जाऊँ - **सोऽकामयत बहु स्याम्।** (तै.उ.2.6.2), **तदैक्षत बहु स्याम्।** (छां.उ.6.2.3) इस प्रकार परमात्मा के संकल्प से ही जगत् की सृष्टि सुनी जाती है, उसे इसके लिए कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता है।

सृष्टि का प्रयोजन लीला- परमात्मा के द्वारा की जाने वाली सृष्टि आदि कार्यों का प्रयोजन केवल लीला है, दूसरा कुछ नहीं। वर्तमान काल में होने वाले रस या आनन्द को लीला कहते हैं- **लीला नाम तादात्विकरसः** (वर.भा.)। प्रायः कर्मो का प्रयोजन (फल) कालान्तर में होता है किन्तु सृष्टि आदि कर्म वैसे नहीं हैं। जैसे भोजन करने का प्रयोजन तृप्ति उसी काल में होती है, कालान्तर में नहीं, वैसे ही सृष्टि करने का प्रयोजन लीलारूप रस उसी काल में होता है, कालान्तर में नहीं। जैसे निखिल

भूमण्डल के सम्राट की कन्दुक क्रीड़ा का प्रयोजन केवल लीला है, वैसे ही परिपूर्ण ईश्वर की सृष्टि का प्रयोजन केवल लीला है- **लोकवत्तु लीला कैवल्यम्** (ब्र.सू.2.1.33)।

शंका-

क्रीड़ा से पूर्व सम्राट की अरति होती है, अतः वह रति (आनन्द) की प्राप्ति के लिए क्रीड़ा करता है। वैसे ही सृष्टि से पूर्व परमात्मा की अरति होती है, अतः वह रति (लीलारूप आनन्द) के लिए सृष्टि करता है। इस प्रकार लीलार्थ सृष्टि मानने पर उनके अवाप्तसमस्तकामत्व से विरोध होता है।

समाधान-

अवाप्तसमस्तकाम-

अवाप्तसमस्तकाम का अर्थ काम्य पदार्थ की निवृत्ति नहीं है क्योंकि वैसा मानने पर परमात्मा को सत्यकाम कहने वाली श्रुति से विरोध होता है। परमात्मा सत्यकाम है- **सत्यकामः** (छां.उ.8.1.5) । यहाँ सत्य का अर्थ है- नित्य और काम का अर्थ है- काम्य पदार्थ। इस प्रकार सत्यकाम का अर्थ है- भोग्य, भोगोपकरण तथा भोगस्थानरूप नित्य पदार्थोंवाले परमात्मा। परमात्मा सभी प्रकार के काम्य पदार्थों वाले हैं, अतः अवाप्तसमस्तकाम का अर्थ काम्य की निवृत्ति नहीं हो सकता है।

अवाप्तसमस्तकाम का अर्थ कामना का अभाव भी नहीं है। क्योंकि भगवान् ने संकल्प किया कि बहुत हो जाऊँ- **तदैक्षत बहु स्याम्** (छां.उ. 6.2.3), भगवान् सत्यसंकल्प है- **सत्यसंकल्पः** (छां.उ.8.1.5) इत्यादि वचन भगवान् की कामना (संकल्प) और उसके सत्यत्व का भी प्रतिपादन करते हैं अतः संकल्पमात्र से भगवान् सभी कार्यों को करने वाले हैं। यह अवाप्तसमस्तकाम[1] का अर्थ है। इसलिए अवाप्तसमस्तकाम भगवान् के सृष्टि कार्य का प्रयोजन लीला ही है।

....

टिप्पणी- 1.स्वेच्छायां सर्वसिद्धिं वदति भगवतोऽवाप्तकामत्ववादः (त.मु.क.3.1)। कामशब्दः इच्छाविषयवाची, अवाप्तशब्दः अहार्थे क्तः प्रत्ययः तथा च स्वेच्छानुगुणप्राप्तियोग्यकाम्यविशिष्टः इति फलितः।

शंका-

सांसारिक प्राणी दु:ख होने पर उसकी निवृत्ति के लिए कार्य करते हैं। क्या भगवान् को भी दु:ख होता है? जिसकी निवृत्ति के लिए वे सृष्टि आदि कार्य करते हैं।

समाधान-

यह शंका उचित नहीं है क्योंकि दु:ख का कारण पाप होता है। भगवान् का पाप नहीं है - **अपहतपाप्मा**[2] (छां.उ.8.1.5) अत: 'वे दु:ख से रहित' हैं- **विशोक:** (छां.उ.8.1.5) इसलिए सृष्टि का प्रयोजन दु:ख की निवृत्ति नहीं है बल्कि लीला प्रयोजन है।

शंका-

अभी सृष्टि का प्रयोजन लीला कहा गया अत: जब तक जगत् की सृष्टि होती रहेगी, तब तक लीला होती रहेगी किन्तु संहार के समय लीला नहीं होगी?

समाधान-

ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि संहार भी लीला है, अत: लीला सदा चलती रहती है, उसका अभाव कभी नहीं होता। **अखिलभुवनजन्मस्थेमभङ्गादिलीले** (श्रीभा.मं.1) इस प्रकार श्रीभाष्यकार ने सृष्टि, स्थिति और लय सभी को भगवान् की लीला कहा है। जैसे मिट्टी का घर बनाना और उसका संहार बालक की लीला है, वैसे ही जगत् की सृष्टि और संहार परमात्मा की लीला है।

यहाँ लीला का अर्थ है- प्रीति (आनन्द) विशेष से होने वाला और स्वयं को प्रिय लगने वाला कार्य - **क्रीडा हि प्रीतिविशेषप्रभव: स्वयंप्रियो व्यापार:** (स.सि.3.1)। अप्रवृत्तिजन्य दु:ख के भय से संसारी प्राणियों की कार्यों में प्रवृत्ति होती है किन्तु इस कारण परमात्मा की सृष्टि आदि कार्यों में प्रवृत्ति नहीं होती है। उन कार्यों में प्रवृत्ति से पहले उनको न तो दु:ख होता है और न ही दु:ख का भय। उस समय भी परमात्मा को बहुत

टिप्पणी- 1. यहाँ पाप्म शब्द पाप, पुण्य दोनों का बोधक है।

आनन्द रहता है, उस आनन्दविशेष से जन्य तथा उनको प्रिय लगने वाले कार्य सृष्टि आदि हैं, इसलिए वे कार्य लीला कहे जाते हैं। जैसे आनन्दातिरेक से उन्मत्त व्यक्ति नृत्य करने लगता है। यह नृत्य आनन्दविशेष से जन्य है और नर्तक का प्रिय कार्य है, इसलिए लीला कहा जाता है। तत्काल में आनन्द को करने वाला व्यापारविशेष लीला है- **लीला तादात्विकानन्दकरव्यापारविशेषः** (श्रीभा.प्र.1.1.1) अपनी बुद्धि से अपनी प्रसन्नता के लिए किया जाने वाला कार्य लीला है- **स्वबुद्धिपूर्वकस्वप्रीत्यर्थव्यापारः** (त.टी.1.1.1)। आनन्द का जनक कार्यविशेष लीला है- **आनन्दजनको व्यापारविशेषः लीला**। जीवात्मा को नूतन कर्म करने के लिए तथा पूर्वकृत कर्म के फल का अनुभव करने के लिए शरीर-इन्द्रिय प्रदान करना लीला है। जगत् की उत्पत्ति के समान उसकी स्थिति, संहार, प्राणियों के अन्दर प्रविष्ट होकर नियमन करना, मोक्ष प्रदान करना ये सभी भगवान् की लीलाएं हैं।

यहाँ यह पुनः ध्यातव्य है कि सृष्टि आदि कार्यों का प्रयोजन लीला कहा गया है और सृष्टि आदि कार्य भी लीला कहे गये हैं। इनमें प्रयोजनरूप लीला तादात्विक रस है और कार्यरूप लीला प्रीतिविशेष से जन्य स्वयं का प्रिय कार्य है।[1]

जैसे घटका निमित्त कारण कुलाल है, क्या वैसे ही जगत् का केवल निमित्तकारण ईश्वर है? इस शंका का उत्तर दिया जाता है-

....

टिप्पणी - 1. श्रीभाष्यकार का **अखिलभुवनजन्मस्थितिभङ्गादिलीले** (श्रीभा.मं.1) यह वचन जगत् के जन्म, स्थिति और लय को लीला कहता है। किन्तु **जगज्जन्मस्थितिध्वंसादेर्लीलैव प्रयोजनम् (श्रीभा.2. 1.33)**। यह वचन जगत् के जन्म,स्थिति और लय का प्रयोजन लीला को कहता है। इनमें कुछ विद्वान् प्रथम वचन के आधार पर द्वितीय वचन का स्वस्य स्वयं दासः के समान (जगत् के जन्म, स्थिति और लयरूप लीला का प्रयोजन वही जन्मादिरूप लीला ऐसा) औपचारिक अर्थ करते हैं। इसे भावप्रकाशिका 2.1.33 में **'केचिद् ...... वर्णयन्ति'** इस प्रकार एकदेशि मत कहा गया है।

17.स्वयमेव जगद्रूपेण परिणमनाद् अयमुपादानकारणमपि भवति, तर्हि निर्विकारत्वं कथम्? इति चेत् स्वरूपस्य विकाररहितत्वात्, तर्हि कथं परिणामो भवति? इति चेत् विशिष्टविशेषणसद्वारकतया। न खलु कस्यचिद् ऊर्णनाभेर्यः स्वभावः सः सर्वशक्तेर्न संभवति।

अर्थ-

स्वयं ही जगद्रूप से परिणत होने के कारण परमात्मा उपादानकारण भी होते हैं, तो (उनका) निर्विकारत्व कैसे संभव होता है? परमात्मस्वरूपको विकारका अभाव वाला होने से (निर्विकारत्व होता है) तो (परमात्मा का) परिणाम कैसे होता है? विशिष्ट परमात्मा का विशेषण के द्वारा परिणाम होता है। किसी मकड़ी का जो स्वभाव है, वह सर्वशक्तिमान् परमात्मा का न हो, ऐसा सम्भव नहीं है।

व्याख्या-

कारण के तीन भेद होते हैं- 1. उपादान कारण 2. निमित्त कारण और 3. सहकारी कारण।

1. उपादान कारण - कार्यरूप से परिणत (परिणाम को प्राप्त) होने वाली वस्तु को उपादान कारण कहते हैं। जैसे- घट का उपादान कारण मिट्टी है, पट के उपादान कारण तन्तु हैं।

2. निमित्तकारण - जो उपादान कारण को कार्यरूप से परिणत करता है, उसे निमित्त कारण कहते हैं। जैसे - घट का निमित्त कारण कुलाल है, पट का निमित्तकारण जुलाहा है। चेतन कर्ता निमित्तकारण होता है।

3. सहकारी कारण - कार्य की उत्पत्ति में सहायक कारण को सहकारी कारण कहते हैं। जैसे घट के सहकारी कारण दण्ड, चक्र तथा कालादि हैं।

भगवान् ही जगत् के उपादान, निमित्त और सहकारी कारण होते हैं।

वे सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्टरूप से जगत् के उपादान कारण होते है, संकल्पविशिष्टरूप से निमित्त कारण होते हैं और कालविशिष्टरूप से सहकारी कारण होते हैं।

अभिन्ननिमित्तोपादानकारण-

जगत् के निमित्त और उपादान कारण एक परमात्मा ही हैं। लोक में घटादि कार्यों के उपादान कारण और निमित्तकारण भिन्न भिन्न देखे जाते हैं। जैसे घट का उपादान कारण मिट्टी होती है और निमित्तकारण कुलाल होता है। पट के उपादान कारण तन्तु होते हैं और निमित्तकारण जुलाहा होता है, वैसे जगत् के निमित्त कारण और उपादान कारण दोनों भिन्न भिन्न नहीं अपितु एक है। इसे ही अभिन्ननिमित्तोपादान कारण कहते हैं। जो परमात्मा संकल्पविशिष्टत्वेन निमित्तकारण होते हैं, वही सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टत्वेन उपादान कारण भी होते हैं। घट का उपादान कारण जो मिट्टी (मृत्पिण्ड) है, वह संकल्प न कर सकने से निमित्तकारण नहीं हो सकती है, इसलिए कार्य की उत्पत्ति के लिए जड़ उपादान कारण अपने से भिन्न चेतन निमित्तकारण की अपेक्षा करता है। जगत् का उपादानकारण ब्रह्म चेतन है, अतः वह अपने से भिन्न निमित्तकारण की अपेक्षा नहीं करता है। घट का निमित्तकारण जो कुलाल है, वह कार्यरूप से परिणत होने में समर्थ नहीं है, इसलिए उपादान कारण नहीं हो सकता है, अतः कार्य की उत्पत्ति के लिए निमित्त कारण अपने से भिन्न उपादान कारण की अपेक्षा करता है। जगत् का निमित्त कारण ब्रह्म सर्वसमर्थ (सर्वशक्तिमान्) है अतः वह अपने से भिन्न उपादान कारण की अपेक्षा नहीं करता है अपितु स्वयं जगद्रूप में परिणत होता है, इसलिए उपादान कारण भी वही होता है। इस प्रकार ब्रह्म जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण होता है।

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् (ब्र.सू.1.4.23) इस ब्रह्मसूत्र का अर्थ है कि जगत् के निमित्तकारण के समान उपादान कारण भी ब्रह्म है क्योंकि उपनिषदों में यह प्रतिज्ञा की गयी है कि एक के ज्ञान से सबका ज्ञान होता है। इस प्रतिज्ञा के समर्थक मृत्तिका और उस के कार्यको दृष्टान्त कहा जाता है। उपादान कारण ही अवस्थान्तर से युक्त होकर कार्य कहा

जाता है। मिट्टी उपादान कारण है, घट उपादेय अर्थात् कार्य है। मिट्टी ही घटत्व अवस्था को प्राप्त करके घट कार्य कही जाती है। इस प्रकार मिट्टी और घटादि दोनों अभिन्न हैं अतः मिट्टी के ज्ञान से 'घटादि मिट्टी ही हैं।' इस प्रकार घटादि का ज्ञान होता है। जैसे मिट्टी घटादि के रूप में परिणत होती है, वैसे ही ब्रह्म जगत् के रूप में परिणत होता है इसलिए ब्रह्म और जगत् दोनों एक ही पदार्थ हैं अतः ब्रह्म के ज्ञान से 'जगत् ब्रह्म ही है', इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् का ज्ञान होता है। इस प्रकार प्रतिज्ञा और दृष्टान्त से ब्रह्म जगत् का उपादान कारण सिद्ध होता है। निमित्तकारण कुलाल के ज्ञान से घटादि सभी का ज्ञान नहीं होता, उपादान कारण के ज्ञान से ही घटादि सभी का ज्ञान होता है। श्रुति एक ब्रह्म के ज्ञान से सबके ज्ञान की प्रतिज्ञा करती है, वह तभी संभव है, जब ब्रह्म उपादान कारण भी हो। ब्रह्म ने स्वयं को जगद्रूप में किया- **तदात्मानं स्वयमकुरुत।**(तै.उ.2.7.1) यह श्रुति ब्रह्म का ही जगद्रूप में परिणाम कहती है।

हे सोम्य! यह जगत् सृष्टि के पूर्व में अन्य निमित्तकारण से रहित एक सद् ब्रह्म ही था- **सदेव सोम्येदमग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम्** (छां. उ.6.2.1) **सोम्य** = हे सोम्य, **इदम्** = प्रत्यक्ष दृश्यमान जगत् (अर्थात् नामरूपके विभाग से युक्त बहुत्व अवस्थावाला स्थूल चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म) **अग्रे** = सृष्टि के पूर्वकाल में, **अद्वितीयम्** = अन्य निमित्तकारण से रहित, **एकम्** = एक (नामरूप के विभाग से रहित एकत्व अवस्था वाला कारण) **सत्** = (सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट) सद् ब्रह्म, **एव** = ही, **आसीत्** = था। चित् ,अचित् और ब्रह्म ये तीनों अनादि हैं। इनमें ब्रह्म सदा चिद् और अचित् से विशिष्ट होकर ही रहते हैं। सृष्टि के पूर्व कारणत्वावस्था में वे सूक्ष्म चिदचित् से विशिष्ट होकर रहते हैं और बाद में कार्यत्वावस्था में स्थूल चिदचिद् से विशिष्ट होकर रहते हैं। इनमें सूक्ष्मचिदचिद् विशिष्ट ब्रह्म कारण होता है और स्थूलचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म कार्य होता है। जैसे कारण मिट्टी एक होती है और घट, शराव आदि कार्य अनेक होते हैं। वैसे ही कारण ब्रह्म एक होता है और महत् से लेकर भूतभौतिक प्रपञ्च, स्थावर-जङ्गम, देवता, मनुष्य, तिर्यक् वृक्षादिरूप कार्य अनेक होते हैं। नामरूप के विभाग से रहित अवस्था को एकत्वावस्था या सूक्ष्मावस्था कहते हैं और नामरूप के विभागवाली अवस्था को बहुत्वावस्था या

स्थूलावस्था कहते हैं। सृष्टि के पूर्व में नामरूप का विभाग न होने से एकत्वावस्था होती हैं। सृष्टि के पूर्व एकत्व (कारणत्व) अवस्था वाला ब्रह्म (कारण ब्रह्म) रहता है। इस अवस्थावाले ब्रह्म को सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म कहते हैं। ऊपर उद्धृत श्रुति में एकमेव पद से नामरूपविभाग के अभाववाला ब्रह्म कहा जाता है। सृष्टि के पूर्व यह जगत् सत् अर्थात् सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म ही था। इससे एकत्वावस्था वाला सद् उपादान कारण तथा बहुत्वावस्थावाला जगत् कार्य सिद्ध होता है। लोक में घट की उत्पत्ति के लिए उपादान कारण मिट्टी से भिन्न निमित्तकारण की अपेक्षा होती है। जगत् का उपादान कारण सद् वस्तु है तो निमित्तकारण कौन है? इस शंका के समाधान के लिए अद्वितीयम् पद है अर्थात् जगत् का निमित्तकारण भी सद् ब्रह्म ही है, उससे भिन्न कोई नहीं। इस प्रकार जगत् का निमित्त और उपादान कारण एक ब्रह्म ही होता है।

प्रश्न-

जगत् का उपादान कारण ब्रह्म होने पर उसमें परिणामरूप विकार भी होगा, इस स्थिति में ब्रह्म निर्विकार है, ज्ञान है और अनन्त है- **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** (तै.उ.2.1.1)। इस श्रुति से सिद्ध ब्रह्म का निर्विकारत्व कैसे संभव होगा?

उत्तर-

ब्रह्म (सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म) को जगत् का उपादान कारण होने पर भी उसके विशेषण अंश में विकार होते हैं, विशेष्य स्वरूप में कोई विकार नहीं होता, इस प्रकार ब्रह्म का निर्विकारत्व बना रहता है।

प्रश्न-

ब्रह्म के स्वरूप में विकार न होने से उस (ब्रह्म) का परिणाम कैसे संभव होता है?

उत्तर-

अर्थ का बोध कराने वाले शब्द को नाम कहते हैं और आकृति को

रूप कहते हैं। जैसे लोक में पिता पुत्र का नाम रखता है, यह नामव्याकरण है तथा कुम्भकार मृत्तिका को घटरूप (घटत्व आकृति) करता है, यह रूपव्याकरण है। जगत् की सृष्टिकाल में नामरूप का विभाग (पार्थक्य) होता है, उससे पूर्वकाल में नहीं होता। नामरूपविभाग से रहित अवस्था को सूक्ष्मावस्था (कारणत्वावस्था) कहते हैं और नामरूपविभाग वाली अवस्था को स्थूलावस्था (कार्यत्वावस्था)कहते हैं। चेतन और अचेतन में रहने वाली ये अवस्थाएं उनसे विशिष्ट ब्रह्म में कही जाती हैं। सूक्ष्मावस्था वाले चेतनाचेतन को सूक्ष्मचेतनाचेतन कहते है और स्थूलावस्थावाले चेतनाचेतन को स्थूलचेतनाचेतन कहते हैं। चेतनाचेतन सदा ब्रह्म के अपृथक्सिद्ध विशेषण होकर ही रहते हैं। सूक्ष्मचेतनाचेतन से विशिष्ट ब्रह्म कारण होता है और स्थूलचेतनाचेतन से विशिष्ट ब्रह्म कार्य होता है। सृष्टि से पूर्व प्रलयकाल में ब्रह्म सूक्ष्म चेतनाचेतन से विशिष्ट होकर रहते हैं और सृष्टिकाल में वे स्थूलचेतनाचेतन से विशिष्ट होकर रहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि सूक्ष्मचेतनाचेतन से विशिष्ट ब्रह्म ही सृष्टि काल में स्थूलचेतनाचेतन से विशिष्ट हो जाते हैं। यह स्थूलचेतनाचेतनविशिष्ट ब्रह्म ही जगत् है। इससे जगत्रूप में परिणत होने वाले ब्रह्म ही उपादानकारण सिद्ध होते हैं।

ब्रह्म कभी नामरूपविभाग के अयोग्य सूक्ष्मावस्था को प्राप्त चेतनाचेतन से विशिष्ट होकर रहते हैं, उसे जगत् का कारण (कारणत्वावस्था वाला ब्रह्म) कहते हैं और कभी नामरूपविभाग के योग्य स्थूलावस्था को प्राप्त चेतनाचेतन से विशिष्ट होकर रहते हैं, उसे जगत् (कार्यत्वावस्था वाला ब्रह्म) कहते हैं।

प्रश्न–

विशेष्य परमात्मस्वरूप का परिणाम न होने पर विशेषणों के द्वारा उसका जगद्रूप में परिणाम कैसे होता है?

उत्तर–

बृहदारण्यकोपनिषत् के अन्तर्यामी ब्राह्मण में **यस्य पृथ्वी शरीरम्** (बृ.उ.3.7.7) इत्यादि प्रकार से चेतन और अचेतन सभी को परमात्मा का शरीर कहा गया है। इन शरीररूप विशेषणों के ही विकार होते हैं। विशेष्य ब्रह्म के नहीं होते। विशिष्ट ब्रह्म के चेतन और अचेतन विशेषण होते हैं,

उनके अन्तर्यामीरूप से रहने वाले ब्रह्म विशेष्य होते हैं। जैसे मकड़ी को जाले का उपादान कारण होने पर भी उसके विशेष्य स्वरूप का कोई विकार नहीं होता, विकार तो उसके विशेषणभूत शरीर का होता है, वैसे ही सूक्ष्मचेतनाचेतन विशेषण वाले परमात्मा को जगत् का उपादान कारण होने पर भी उसके विशेष्य स्वरूप का कोई विकार नहीं होता है। विकार तो शरीरभूत चेतन और अचेतन विशेषणों के होते हैं। जैसे मकड़ी का शरीर के द्वारा परिणाम होता है, वैसे ही परमात्मा का चेतनाचेतन विशेषणों के द्वारा परिणाम होता है। विशिष्ट परमात्मा के विशेषणों के ही परिणाम होते हैं, विशेष्य परमात्मस्वरूप के परिणाम नहीं होते। विशेष्य परमात्मा का साक्षात् परिणाम नहीं होता है, विशेषणों के द्वारा उसके परिणाम होते हैं। जिस प्रकार स्वरूपतः निर्विकार जीवात्मा मनुष्यादि शरीर से विशिष्ट होने पर शरीर के द्वारा बालत्व, युवत्व और वृद्धत्वरुप विकारों को प्राप्त करता है, उसी प्रकार स्वरूपतः निर्विकार ब्रह्म चेतनाचेतनविशिष्टरूप से विकारों को प्राप्त करता है। पूर्वरूप के उपमर्दनपूर्वक जो अन्यथाभावरूप विकार होता है, उसके होने से वस्तु विनाशी होती है, वह विकार ब्रह्म में नहीं होता है।

ईश्वर के द्वारा की जाने वाली सृष्टि कैसी है? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं-

18.ईश्वरेण क्रियमाणा सृष्टिर्नाम अचितः परिणमनम् चेतनस्य शरीरेन्द्रियप्रदानपुरस्सरं ज्ञानस्य विकासनं च

अर्थ-

ईश्वर के द्वारा की जाने वाली सृष्टि का अर्थ है- अचेतन का परिणाम और शरीर-इन्द्रिय के प्रदानपूर्वक चेतन के धर्मभूतज्ञान का विकास।

व्याख्या-

ईश्वर भोग्य, भोगोपकरण तथा भोगस्थान बनने के लिए अचेतन

प्रकृति का महदादि रूपों में परिणाम करते हैं। प्रलयकाल में जीवों का ज्ञान गुण अत्यन्त संकुचित होकर रहता है। श्रीभगवान् सृष्टिकाल में उन्हें शरीर-इन्द्रिय प्रदान करते हैं, जिससे कर्मफल भोगने के अनुरूप उनके ज्ञान गुण का विकास होता है। इस प्रकार अचेतन प्रकृति का परिणाम तथा चेतन जीवात्मा को शरीर-इन्द्रिय प्रदान करके उसके ज्ञान का विकास ही ईश्वर की सृष्टि है। कूटस्थ चेतन जीवात्मा का परिणाम नहीं होता किन्तु बद्धावस्था में उसके धर्मभूतज्ञान का सुखादि विविध रूपों में परिणाम होता है।

भगवान् जगत् की स्थिति कैसे करते हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं-

19.स्थितिकरणञ्च सस्यानां जलधारावत् सृष्टेषु वस्तुष्व- नुप्रविश्य स्थित्वा सर्वविधरक्षाकरणम्।

अर्थ-

जिस प्रकार जलधारा (पौधों में प्रवेश करके उन में स्थित होकर) पौधों की रक्षा करती है, उसी प्रकार (परमात्मा) रची गयी वस्तुओं में प्रवेश करके (और उन वस्तुओं में) स्थित होकर (उनके द्वारा वस्तुओं की) सब प्रकार से रक्षा करने को ही स्थिति करना कहते हैं।

व्याख्या-

जैसे जल पेड़-पौधे, लता, वनस्पति आदि के अन्दर प्रवेश करके, वहीं स्थित होकर उनको जीवन (रक्षा) प्रदान करता है। वैसे ही भगवान् अपने द्वारा रचित वस्तुओं में प्रवेश करके वहीं स्थित होकर उनको जीवन प्रदान करते हैं। भगवान् चराचर जगत् को उत्पन्न करके जीवन प्रदान करने के लिए उसमें अनुप्रवेश कर गये- **तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्**(तै.उ.2. 6.2)। इस प्रकार चराचर जगत् को जीवन प्रदान करना ही स्थिति करना है। उत्पन्न हुए प्राणी जिससे स्थित रहते हैं- **येन जातानि जीवन्ति।** (तै. उ.3.1.2) इस प्रकार तैत्तिरीय श्रुति में जगत् की स्थिति के कर्ता भगवान्

कहे गये हैं।

भगवान् जगत् का संहार कैसे करते हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं-

20.संहरणं नाम अविनीतस्य पुत्रस्य पित्रा क्रियमाणं निगडबन्धनमिव विषयान्तरेषु प्रसक्तानां करणानां भञ्जनम्।

अर्थ-

जैसे उदण्ड पुत्र का पिता के द्वारा जंजीर से बन्धन किया जाता है, वैसे ही सांसारिक विषयों में आसक्त जीवों के शरीर, इन्द्रिय और भोग्य पदार्थों का (ईश्वर के द्वारा जो किया जाने वाला) लय संहार कहलाता है।

व्याख्या-

'जीव इस बार सुधर जायेगा' इस अभिप्राय से भगवान् मनुष्य जन्म देते हैं और 'आगे भी सुधर जायेगा।' इस आशा से संहार तक मनुष्य जन्म देते रहते हैं किन्तु जीव पाप कर्म करके अपनी वासनाओं की वृद्धि करता रहता है, इसलिए भगवान् इसके कर्म और वासनाओं को दबाने के लिए संहार कर देते हैं।

जैसे उपकार करने वाले पिता अविनीत पुत्र को कुमार्ग से हटाने के लिए जंजीर से बाँध देते हैं, वैसे ही सहस्रों माता-पिता से भी अधिक उपकार करने वाले भगवान् विषयप्रवण जीव को विषयों से हटाने के लिए उसके शरीर, इन्द्रिय और सभी भोग्य पदार्थों का लय कर देते हैं। प्रयाण को प्राप्त होते हुए प्राणी जिसमें लीन हो जाते हैं, वह ब्रह्म है- **यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्मेति।** (तै.उ.3.1.2) इस प्रकार तैत्तिरीय श्रुति भगवान् को जगत् का संहारकर्ता कहती है।

अब सृष्टि आदि तीनों के चार-चार भेद कहे जाते हैं -

21.सृष्ट्यादित्रयमिदं प्रत्येकं चतुर्विधम्। सृष्टौ ब्रह्मणः प्रजापतीनां कालस्य सकलजन्तूनां चान्तर्यामी सन् रजोगुणयुक्तस्सृजति। स्थितौ विष्ण्वादिरूपेणावतीर्य, मन्वादिरूपेण शास्त्राणि प्रवर्त्य, सन्मार्गं प्रदर्श्य कालस्य सर्वेषां च भूतानामन्तर्यामी सन् सत्त्वगुणयुक्तः स्थापयति। संहारे रुद्रस्य अग्न्यन्तकादीनां कालस्य सकलभूतानां चान्तर्यामी सन् तमोगुणयुक्तस्संहरति।

अर्थ-

ऊपर सृष्टि आदि तीन कार्यों का निरूपण किया गया, उनमें से प्रत्येक के चार भेद होते हैं। भगवान् सृष्टिकाल में ब्रह्मा, प्रजापति, काल और सभी जीवों के अन्तर्यामी होकर तथा रजोगुण से युक्त होकर सृष्टि करते हैं, स्थितिकाल में विष्णु आदि रूप से अवतार लेकर, मनु आदि के अन्तर्यामी रूप से शास्त्रों का प्रवर्तन करके सन्मार्ग को दिखाकर काल और सभी प्राणियों के अन्तर्यामी होकर तथा सत्त्वगुण से युक्त होकर जगत् की स्थिति (रक्षा) करते हैं। संहार काल में रुद्र, अग्नि-अन्तक, काल और सकल प्राणियों के अन्तर्यामी होकर तथा तमोगुण से युक्त होकर संहार करते हैं।

व्याख्या-

श्रीभगवान् स्वयं भूतपर्यन्त तत्त्वों की सृष्टि करके, भूतों का पञ्चीकरण करके, उनसे ब्रह्माण्ड का निर्माण करके ब्रह्माजी की सृष्टि करते हैं। यह सृष्टि अद्वारक (समष्टि) सृष्टि कहलाती है, इसके आगे सृष्टि कार्य करने के लिए रचे गये ब्रह्मा से पुलस्त्य, मरीचि, दक्ष और कश्यपादि प्रजापति होते हैं और इसी क्रम से आगे सभी जीव होते हैं। सृष्टि कार्य काल के विना नहीं होता है। इस में काल भी कारण है। ब्रह्मादि सभी के अन्दर रहकर उनका नियमन करने वाले भगवान् अन्तर्यामी कहे जाते हैं। अद्वारक सृष्टि के बाद की सृष्टि सद्वारक (व्यष्टि) सृष्टि कहलाती है। भगवान् ब्रह्मा, प्रजापति, काल और सभी जीवों के अन्तर्यामी होकर सृष्टि करते हैं।

सत्त्व, रज और तम गुण प्रकृति के ही हैं, आत्मा परमात्मा के नहीं

किन्तु संसारी जीवात्मा इन से प्रभावित होती है, ये जीवों के द्वारा किए जाने वाले कार्यों में हेतु होते हैं। सृष्टि कार्य करने के लिए रजोगुण अपेक्षित होता है। ब्रह्मा आदि देवता भी जीव हैं, वे रजोगुण से युक्त होकर सृष्टि कार्य[1] करते हैं, उनके अन्तर्यामी होने से भगवान् भी रजोगुण से युक्त कहे जाते हैं।

भगवान् सृष्टि करके उसकी रक्षा करने के लिए स्वयं विष्णुरूप से अवतरित होते हैं। ब्रह्मा, विष्णु ओर महेश इन त्रिदेवों के मध्य में विष्णु तो साक्षात् भगवान् नारायण ही हैं, वे मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, राम, कृष्ण और कल्कि इन रूपों में अवतार लेकर साक्षात् जगत् का रक्षण करते हैं। मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर, वाल्मीकि, व्यास और शौनकादि महर्षियों के अन्तर्यामीरूप से शास्त्रों का निर्माण करके और उपदेश से सभी प्रज्ञा के लिए अनुकरणीय श्रुतिप्रतिपादित सन्मार्ग प्रदर्शित करते हैं। रक्षा करने के लिए उपयोगी काल के तथा अन्य सभी रक्षक जनों के अन्तर्यामी होकर रक्षा करते हैं। जगत् की उत्पत्ति के अनन्तर उसके सुव्यवस्थित सञ्चालनार्थ संविधान निर्माण के लिए मनु आदि को सत्त्वगुण अपेक्षित होता है और जगत् की शान्तिमय स्थिति के लिए भी सत्त्वगुण अपेक्षित होता है। मनु आदि सत्त्वगुण वाले जीवों के अन्तर्यामी होने से भगवान् को सत्त्वगुण से युक्त होना कहा जाता है।

भगवान संहारकाल में रुद्र के, अग्नि और यमराज के, विनाश के लिए अपेक्षित काल के और विनाश करने के लिए उद्यत सभी जीवों के अर्न्तयामी होकर जगत् का संहार करते हैं। इस कार्य के लिए उपयोगी तमोगुण वाले रुद्र आदि के अन्तर्यामी होने से भगवान् भी तमोगुण से युक्त कहे जाते हैं। अग्नि और अन्तक के द्वारा अन्य जीवों के संहार के पश्चात् अग्नि का और अन्तक का भी संहार होता है। इतना संहार सद्वारक संहार कहा जाता है। इसके उपरान्त भगवान् रुद्र का भी संहार करके सम्पूर्ण

....

टिप्पणी- 1. चार प्रकार की सृष्टि, स्थिति और लय का विष्णुपुराण (1. 22.22-41) में वर्णन किया गया है।

ब्रह्माण्ड का लय कर देते हैं। भगवान् के द्वारा किया जाने वाला यह संहार अद्वारक संहार कहलाता है।

अब विषमसृष्टि के कारण होने वाली शंका और उसका समाधान प्रस्तुत किया जाता है-

22.कांश्चित् सुखिनः कांश्चिद् दु:खिनश्च सृजत ईश्वरस्य वैषम्यनैर्घृण्ये प्रसज्येयाताम् इति चेन्न कर्मणा हेतुना तथा करणात्, मृद्भक्षकशिशुशिक्षकमातृन्यायेन हितपरतया करणाच्च।

अर्थ-

कुछ सुखी प्राणियों की और कुछ दु:खी प्राणियों की रचना करने वाले ईश्वर में पक्षपात और निर्दयता दोष प्राप्त होते हैं, यदि कोई ऐसा कहना चाहे तो उचित नहीं है क्योंकि (ईश्वर) कर्म के कारण वैसी सृष्टि करते हैं और मिट्टी खाने वाले शिशु को शिक्षा देने वाली माता की रीति से (प्राणियों के) हितकारक होकर ही (दु:खी प्राणियों की) सृष्टि करते हैं।

व्याख्या-

शंका-

भगवान् किसी जीवात्मा को देवताशरीर देते हैं, किसी को मनुष्यशरीर देते हैं, किसी को पशुशरीर देते हैं, किसी को पक्षीशरीर देते हैं और किसी को लतावृक्षादिरूप शरीर देते हैं। किसी को नेत्र वाला - किसी को अन्ध ा, किसी को कान वाला- किसी को बधिर, किसी को स्वस्थ- किसी को रोगी और किसी को जन्म से सुखी-किसी को जन्म से दु:खी बनाते हैं। इस प्रकार वे विषम सृष्टि ही करते हैं। इससे उनमें वैषम्य दोष प्राप्त होता है। वे जिसका पक्ष करते हैं, उसे देवता और मनुष्य बनाते हैं, स्वस्थ और सुखी बनाते हैं, जिसका पक्ष नहीं करते हैं, उसे पशु-पक्षी आदि बनाते हैं, रोगी और दु:खी बनाते हैं। भगवान् यदि दया करें तो किसी को दु:खी न बनाएं किन्तु वे अत्यन्त दु:खी प्राणियों की भी सृष्टि करते हैं, इससे उनमें निर्दयता दोष भी प्राप्त होता है।

समाधान-

वैषम्य-नैर्घृण्य का अभाव -

उक्त दोषों का यहाँ कोई अवकाश नहीं है क्योंकि देवता आदि प्राणियों की विषमसृष्टि कर्मसापेक्ष है। यदि भगवान् स्वतन्त्रता से सृष्टि करते तो उनमें वैषम्य दोष प्राप्त होता किन्तु भगवान् स्वतन्त्रता से सृष्टि नहीं करते हैं, उनके द्वारा रचे जाने वाले विविध प्राणियों की विचित्र सृष्टि पूर्व कर्म की अपेक्षा करती है। जिसके पुण्य कर्म अधिक होते हैं, उसे देवता और मनुष्य बनाकर स्वस्थ और सुखी रखते हैं। जिसके पाप कर्म अधिक होते हैं, उसे निम्न शरीर की प्राप्ति कराते हैं तथा रोगी और दुःखी रखते हैं। पुण्य कर्म करने वाला आगामी जन्म में पुण्य के साधन ब्राह्मणादि उत्तम शरीरवाला होता है और पाप करने वाला अग्रिम जन्म में पाप के साधन निम्न शरीर वाला होता है- **साधुकारी साधुर्भवति, पापकारी पापो भवति** (बृ.उ.4.4.5) इस प्रकार ईश्वर में वैषम्य दोष की प्रसक्ति नहीं होती है। जैसे किसी शिशु के मिट्टी खाने पर उसे शिक्षा देने के लिए माता उसे डराती-धमकाती है, प्रताडित करती है, जिससे वह दुःखी हो जाता है। मिट्टी खाने से अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं, अतः माता हानिकारक कर्म मृद्भक्षण से रोकने के लिए शिशु के समक्ष दुःखदायी स्थिति उत्पन्न करती है। उसका लक्ष्य अपने प्रिय पुत्र को दुःख पहुँचाना नहीं है, उसका लक्ष्य अनिष्ट के साधन कर्म से पुत्र को रोकना है वैसे ही पाप कर्म करने वाले को भगवान् दुःखी कर देते हैं। यद्यपि उनका लक्ष्य दुःख पहुँचाना नहीं है, पाप का फल दुःख है अतः दुःख के साधन पाप कर्म से निवृत्ति कराने के लिए भगवान् उसे दुःखी करते हैं, जिससे जीव यह समझ सके कि मेरे पूर्वकृत पाप कर्म के कारण अभी दुःख प्राप्त हो रहा है, यदि आगे भी पाप करूँगा तो और भी दुःखी हो जाऊँगा। इस प्रकार पाप से निवृत्ति के लिए जीव को दुःख प्राप्त होते हैं। ईश्वर की ऐसी कल्याणकारक भावना होने से उनमें निर्दयता दोष भी नहीं होता है। महर्षि वेदव्यास ने इस विषय का **वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति** (ब्र.सू.2.1.34) इस सूत्र में प्रतिपादन किया है।

*ईश्वर प्रकरण के आरम्भ में वर्णित **ईश्वरोऽखिल.....** इत्यादि अंश*

की व्याख्याकरके अब प्रसङ्गबशात् ***आर्तो जिज्ञासुरथार्थी....*** इत्यादि *अंश की व्याख्या की जाती है-*

चतुर्विध पुरुषों के आश्रय -

हे अर्जुन! आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी ये चार प्रकार के पुण्यात्मा भक्त मेरा भजन करते हैं- **चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन। आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥** (गी.7.16) जो नष्ट हुए ऐश्वर्य को पुनः प्राप्त करना चाहता है, वह आर्त भक्त है। पहले से अप्राप्त ऐश्वर्य की कामना करने वाला अर्थार्थी भक्त है। प्रकृति के संसर्ग से रहित आत्मस्वरूप के अनुभव करने की कामना वाला जिज्ञासु भक्त है और अपने ब्रह्मात्मक आत्मस्वरूप को जानकर उसे ही पर्याप्त न मानकर अन्तरात्मा भगवान् को ही परम प्राप्य मानने वाला ज्ञानी भक्त कहलाता है। इन चारों प्रकार के भक्तों के आश्रय लेने योग्य श्रीभगवान् हैं।

धर्मादि फल के प्रदाता-

श्रीभगवान् ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चार प्रकार के फलों को प्रदान करने वाले हैं।

पुरुषार्थ- पुरुष के द्वारा जो प्रार्थनीय (चाहने योग्य) होता है, उसे पुरुषार्थ कहते हैं- **पुरुषेण अर्थ्यते प्रार्थयत इति पुरुषार्थः।** धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चतुर्विध पुरुषार्थ होते हैं।

धर्म- विधि वाक्यों से बोधित (ज्ञात) कर्म ही धर्म है- **चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः** (जै.सू.1.1.2)। अग्निहोत्र, तप, सत्यभाषण, वेदों का रक्षण, अतिथिसत्कार और बलिवैश्वदेव ये इष्ट कर्म कहलाते हैं। बावली, कूप, तालाव, देवमन्दिर का निर्माण, अन्नदान और उद्यान लगाना ये पूर्त कर्म कहलाते हैं- **अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चैव पालनम्। आतिथ्यं वैश्वदेवश्च इष्टमित्यभिधीयते॥ वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च। अन्नप्रदानमारामाः पूर्त्तमित्यभिधीयते॥**(अ.सं.43-44) इस प्रकार वर्णित इष्टापूर्त्त कर्मों को धर्म कहते हैं।

अर्थ- सुवर्ण, रजत, रुपया आदि तथा इनसे प्राप्त होने वाले सभी प्रकार के भोग्य पदार्थोंको अर्थ कहते हैं।

काम- सुखभोगको काम कहते हैं।

मोक्ष- प्रकृति के बन्धन से सर्वथा विनिर्मुक्त होकर निरतिशय आनन्दरूप परमात्मा का अनुभव मोक्ष है। आनन्दरूप परमात्मा का अनुभवरूप मोक्ष भी आनन्दरूप होता है।

बालक से लेकर वृद्ध पर्यन्त सभी सुख की ही कामना करते हैं, यह बात प्रसिद्ध है। काम और मोक्ष सुखरूप होने से पुरुषार्थ होते हैं। धर्म और अर्थ तो सुख के साधन होने से पुरुषार्थ होते हैं, स्वरूपतः पुरुषार्थ नहीं होते। अतः धर्म और अर्थ से काम और मोक्ष श्रेष्ठ हैं। उन दोनों में भी मोक्ष अधिक श्रेष्ठ है क्योंकि काम (भोग) रूप सुख दुःखसे मिश्रित तथा विनाशी होता है और मोक्षरूप सुख दुःखसे रहित तथा अविनाशी होता हैं। धर्म निष्काम भाव से अनुष्ठित होने पर मोक्ष का साध न होता है और सकाम भाव से अनुष्ठित होने पर भोग का साधन होता है। धर्म से अर्थ के द्वारा काम (वैषयिक सुख) प्राप्त होता है, इसलिए काम से अर्थ निकट है अतः कामसे पूर्व अर्थ का निर्देश करते हैं। धर्म से अर्थ की प्राप्ति होती है, इसलिए अर्थ से भी पूर्व धर्म का निर्देश होता है। इस प्रकार धर्म की अपेक्षा उत्तरोत्तर तीनों पुरुषार्थों की श्रेष्ठता होने पर भी उन सभी का मूल धर्म है इसलिए पुरुषार्थ की कामना करने वाले जीव प्रथम धर्म का ही आश्रय लेते हैं। भगवान् जीवों के अधिकार के अनुसार उन्हें धर्मादि चतुर्विध पुरुषार्थरूप फल प्रदान करते हैं।

23.मुन्नीर्ञालम्पडैत्त एन्मुहिल वण्णने (स.गी.3.2.1) इत्युक्तप्रकारेण विग्रहविशिष्टस्सन् सृष्ट्यादिकं करोति।

अर्थ-

'हे सागर से आवृत जगत् को उत्पन्न करने वाले, नीलमेघ के समान कान्तिवाले भगवन्' इस प्रकार भगवान् विग्रह से युक्त होकर सृष्टि

आदि कार्य करते हैं।

व्याख्या-

प्रस्तुत तत्त्वत्रय ग्रन्थ में 'मुन्नीर्' इस प्रकार सहस्रगीति ग्रन्थ की तमिलभाषामय गाथा उद्धृत की गयी है। इसका श्रीसम्पत्कुमाराचार्य स्वामी जी ने सागर से परिवृत जगत् के समुत्पादक नीलमेघ सदृश भगवन्! यह हिन्दी अनुवाद किया है। यह पूर्व में कहा गया है कि भगवान् का सृष्टिकार्य शरीर-इन्द्रिय निरपेक्ष है अर्थात् वे संकल्पमात्र से जगत् की सृष्टि करते हैं। इसके लिए उन्हें शरीर-इन्द्रिय की अपेक्षा नहीं होती है फिर भी चिदचिद् से सदा विशिष्ट रहने वाले भगवान् जैसे कल्याणकारक गुणों से विशिष्ट रहते हैं, वैसे ही दिव्यमंगल विग्रह से भी विशिष्ट रहते हैं, गुणों के समान उनका विलक्षण, अप्राकृत विग्रह नित्य हैं, अतः वे सृष्टिकाल में भी इससे विशिष्ट होकर ही रहते हैं, इसी अभिप्राय से ग्रन्थकार ने सहस्रगीतिकी गाथा को उद्धृत किया है, ऐसा समझना चाहिए।

अब भगवान् के विलक्षण विग्रह का वर्णन किया जाता है-

24.विग्रहश्च स्वरूपाद्, गुणेभ्यश्चात्यन्ताभिमतः, स्वानुरूपः, नित्यः, एकरूपः, शुद्धसत्त्वात्मकः चेतनदेहवत् ज्ञानमयस्य स्वरूपस्याच्छादनमकुर्वन् माणिक्यमयकरण्डकं स्वान्तर्निहितस्य कार्तस्वर[1]स्येव स्वर्णच्छा[2]यस्य दिव्यात्मस्वरूपस्य प्रकाशकः निरवधिकतेजोरूपः, सौकुमार्यादिकल्याणगुणगणनिधिः, योगिध्येयः, सकलजनमोहनः समस्तभोगवैराग्यजनकः, नित्यमुक्तानुभाव्यः उत्फुल्लपंकजसुगन्धिमहातटाकवत्सकलतापहरः, अनन्तावतार-कन्दभूतः, सर्वरक्षकः सर्वाश्रयभूतः, अस्त्रभूषणभूषितश्च।

अर्थ-

भगवान् का श्रीविग्रह स्वरूप से और गुणों से अत्यन्त अभिमत है,

टिप्पणी -1. सुवर्णस्य।, 2. अतिरमणीयस्य।

उनके अनुरूप है, नित्य है, एकरूप है, शुद्धसत्त्वमय है, जीव की देह के समान ज्ञानमय (ज्ञान) स्वरूप का आच्छादन न करते हुए अपने अन्दर स्थित सुवर्ण के प्रकाशक माणिक्यमय पात्रके समान अति रमणीय दिव्य आत्मस्वरूप का प्रकाशक है, निरवधिक तेजोरूप है, सौकुमार्यादि कल्याणगुणसमूह का आश्रय है, योगियों के द्वारा ध्येय, सभी जनों को मोहित करने वाला, सम्पूर्ण भोगों से वैराग्य का जनक तथा नित्य और मुक्तोंके द्वारा अनुभाव्य है। खिले हुए कमल की सुगन्ध से परिपूर्ण महासरोवर के समान सकल तापों का हरण करने वाला है, अनन्त अवतारों का मूल है, सभी का रक्षक है, सभी का आश्रय है तथा अस्त्र और आभूषणों से सुशोभित है।

व्याख्या-

श्रीविग्रह-

भगवान् का श्रीविग्रह स्वरूपतः और गुणतः अत्यन्त इष्ट है। श्रीविग्रह का शुद्धसत्त्वमय स्वरूप है। रज,तमसे रहित सत्त्वको शुद्धसत्त्व कहते हैं। संसारी जीवों के शरीर त्रिगुणमय ही होते हैं। शुद्ध सत्त्वमय नहीं होते किन्तु भगवान् का श्रीविग्रह शुद्धसत्त्वमय है, इसलिए वह उनको स्वरूपसे अत्यन्त इष्ट है। श्रीविग्रह के सौकुमार्यादि तथा योगिध्येयत्वादि सभी उत्तम गुण हैं, इस लिए वह उनको गुणों से भी अत्यन्त इष्ट है। कोई वस्तु अनुरूप न होने पर भी अभिमत होती है। जैसे - अतिसुन्दर दीन व्यक्ति को धारण करने के लिए जीर्ण-शीर्ण वस्त्र अनुरूप न होने पर भी उसे अभिमत होता है। भगवान् का श्रीविग्रह वैसा नहीं है, वह उन्हें अभिमत है और अनुरूप भी। श्रीविग्रह नित्य है अर्थात् स्वरूप और गुणों के समान उत्पत्ति - विनाश से रहित है। वह एकरूप रहने वाला है क्योंकि वृद्धि और क्षयरूप विकार से रहित है। वह शुद्धसत्त्वमय है अर्थात् गुणान्तर के संसर्ग से रहित सत्त्व का आश्रय अप्राकृत (दिव्य) पदार्थ है। शुद्ध सत्त्व का निरूपण इसी ग्रन्थ के अचित् प्रकरण में किया जा चुका है। जैसे संसारी चेतन की देह बाह्य विषयों में भोग्यत्व बुद्धि उत्पन्न करके उसके ज्ञानानन्द स्वरूप का आच्छादन करती है, इसलिए उसका ज्ञानानन्द स्वरूप प्रकाशित नहीं होता है, वैसे भगवान् का श्रीविग्रह उनके ज्ञानानन्दस्वरूप

का आच्छादन नहीं करता है अपितु, जैसे माणिक्यमय (मणिनिर्मित) मञ्जूषा अपने अन्दर स्थित सुवर्णका प्रकाशक होती है, वैसे ही श्रीविग्रह अतिरमणीय दिव्य परमात्मस्वरूप का प्रकाशक होता है। वह सर्वाधिक तेजोरूप है, इसलिए उसकी कान्ति भी सर्वाधिक है, वह (कान्ति) श्रीविग्रह से प्रवाह के रूप में निकलती रहती है। श्रीभगवान् के महाबलशाली होने पर भी श्रीविग्रह अत्यन्त सुकुमार है। वह सौकुमार्य, सौगन्ध्य, सौन्दर्य, लावण्य तथा यौवन आदि कल्याण गुणों का आश्रय है और सभी प्रकार की अनुकूल गन्ध का आश्रय है - **सर्वगन्धः** (छां.उ.3.14.2)। अङ्गों की शोभा को सौन्दर्य कहते हैं और समग्र श्रीविग्रह की शोभा को लावण्य कहते हैं। वह यौवन कालकृत अवस्था नहीं है किन्तु विग्रह का स्वभाव है और नित्य है। कौमारावस्था के बाद में आने वाला यौवन कालकृत होता है। श्रीविग्रह शुभाश्रय है, इसलिए वह सदा ही भगवद्ध्यानपरायण योगियों के ध्यान का विषय होता है। भगवान् का श्रीविग्रह सर्वजनमोहन है अर्थात् दृष्टि पड़ते ही सबके चित्त का हरण करने वाला है। वह चिन्तन करने वालों के लिए सम्पूर्ण भोगों से वैराग्य को उत्पन्न करने वाला है। वह अपरिच्छिन्न ज्ञानवाले नित्य और मुक्त आत्माओं का अनुभाव्य (निरतिशय भोग्य) है। जिस प्रकार विकसित कमलपुष्पों की सुगन्ध से परिपूर्ण महासरोवर दर्शकों के ताप (उष्णता) का हरण कर लेता है, उसी प्रकार श्रीविग्रह दर्शन करने वाले स्वाश्रित भक्तों के आध्यात्मिक, आधिभौतिक ओर आधिदैविक इन सभी संतापों का हरण करने वाला है। कर्माधीन जन्म न लेने वाला परमात्मा बहुत रूपों में अवतार लेता है - **अजायमानो बहुधा विजायते** (य.सं.31.19)। इस प्रकार प्रतिपादन किए गये भगवान् के अनन्त अवतारों का मूल वह विग्रह (त्रिपादविभूति में विद्यमान) है अर्थात् शुद्धसत्त्वमय उसी विग्रह के अंश से अवतार विग्रह होते हैं। उसका चिन्तन करने से अनिष्ट दुःख की निवृत्ति होकर इष्टफल की प्राप्ति सबको होती है, इस प्रकार वह सबका रक्षक होता है। पुरुष तत्त्व की अभिमानी कौस्तुभमणि श्रीभगवान के उर में सुशोभित है, प्रकृतितत्त्व का अभिमानी श्रीवत्स हृदय में शोभायमान होता है। महत्तत्त्व की अभिमानी गदा हाथ में शोभित होती है इत्यादि प्रकार से श्रीविग्रह सभी का आश्रय है तथा वह दिव्य अस्त्र और दिव्य आभूषणों से सुशोभित रहता है। वह

विषय विष्णुपुराण (1.22.68-74) में वर्णित है।

लक्ष्मी, भूमि और नीलाके नायक-

दिव्यविग्रह धारण करने वाले भगवान् विष्णु श्री(लक्ष्मी) देवी, भू देवी और नीला देवी के साथ विराजते हैं। इनमें लक्ष्मी देवी प्रधान हैं। वे भगवान् की कृपा के समान हैं, भूदेवी क्षमा के समान हैं और नीला देवी उदारता के समान हैं। वे भगवान् और लक्ष्मी दोनों की शेष हैं। इन तीनों देवियों के नायक भगवान् श्रीमन्नारायण हैं।

25.ईश्वरस्वरूपं परव्यूहविभवान्तर्याम्यर्चावतारभेदेन पञ्चविधम्। तत्र परत्वं नाम अकालकाल्येऽनन्तानन्दमये देशविशेषे नित्यमुक्तैर्भोग्यतयावस्थानम्।

अर्थ-

पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार के भेद से विग्रहविशिष्ट ईश्वर का स्वरूप 5 प्रकार का होता है। उनमें काल के कारण होने वाले परिणाम से रहित, अनन्त, आनन्दमय भगवद्धाम में नित्य तथा मुक्तों के द्वारा भोग्य होकर रहने वाला स्वरूप पर है।

व्याख्या-

ईश्वर के पाँचरूप-

वेदान्त के पारगामी विद्वान् ईश्वर के 5 प्रकारों को कहते हैं - पर, व्यूह, विभव, सभी प्राणियों का नियन्ता अन्तर्यामी और अर्चावतार- **मम प्रकाराः पञ्चेति प्राहुर्वेदान्तपारगाः। परो व्यूहश्च विभवो नियन्ता सर्वदेहिनाम्॥ अर्चावताराश्च तथा......**(वि.सं.) इत्यादि आगमवचन पर आदि पाँचों रूपों का विस्तार से प्रतिपादन करते हैं।

पर- प्राकृत पदार्थ का कालकृत परिणाम होता है, त्रिपादविभूति का नहीं होता अतः त्रिपादविभूति कालकृत परिणाम से रहित है। कला-मुहूर्तरूप काल त्रिपादविभूति के परिणाम का हेतु नहीं है- **कलामुहूर्तादिमयश्च**

कालो न यद्विभूतेः परिणामहेतुः (वि.पु.4.1.84)। त्रिपादविभूति अनन्त अर्थात् अविनाशी है और आनन्दमय (आनन्दरूप) है। वह स्वयंप्रकाश है, स्वयंप्रकाश वस्तु को ही ज्ञान कहते हैं और अनुकूल ज्ञान ही आनन्द है। कालकृत परिणाम से रहित, अनन्त, आनन्दमय देशविशेष में नित्य तथा मुक्त आत्माओं के द्वारा अनुभाव्य रूप से विद्यमान भगवान् पर कहे जाते हैं। वे अप्राकृत विग्रहवाले, दिव्य गुणों के निधि, दिव्य अस्त्र, वस्त्र और आभूषणों से सुसज्जित तथा जगन्माता श्रीजी के साथ दिव्य सिंहासन पर विराजमान रहते हैं।

26.व्यूहो नाम सृष्टिस्थितिसंहारार्थं संसारिसंरक्षणार्थम् उपासकानुग्रहार्थं च संकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धरूपेणावस्थानम्।

अर्थ-

जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करने के लिए, संसारी जीवों के संरक्षण के लिए तथा उपासकों पर अनुग्रह करने के लिए संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध रूप से स्थित भगवान् व्यूह कहलाते हैं।

व्याख्या-

व्यूह- लीलाविभूति की उत्पत्ति, स्थिति और संहार के लिए भगवान् का व्यूहरूप है, इस विषय का ग्रन्थकार स्वयं प्रतिपादन करेंगे। व्यूह भगवान् अनिष्ट की निवृत्ति और इष्ट फल प्रदान करके भक्तों का संरक्षण करते हैं। जीव उनका अनुग्रह पाकर संसारबन्धन से विनिर्मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

27.परस्वरूपे ज्ञानादयः षड् गुणाः पूर्त्या प्रकाशन्ते, व्यूहेषु प्रत्येकं द्वौ द्वौ गुणौ प्रकाशेते। तत्र संकर्षणो ज्ञानबलाभ्यां युक्तो जीवतत्त्वमधिष्ठाय, तच्च प्रकृतेर्विविच्य प्रद्युम्नावस्थां च प्राप्य शास्त्रप्रवर्तनं जगत्संहारञ्च करोति। प्रद्युम्न ऐश्वर्यवीर्याभ्यां युक्तो मनस्तत्त्वमधिष्ठाय धर्मोपदेशं मनुचतुष्टयादि शुद्धवर्गसृष्टिं च करोति। अनिरुद्धस्तु शक्तितेजोभ्यां युक्तो रक्षणे तत्त्वज्ञानप्रदाने कालसृष्टौ

मिश्रसृष्टौ चाधिकृतो भवति।

अर्थ-

भगवान् के परस्वरूप में ज्ञानादि छः गुण पूर्णरूप से प्रकाशित होते हैं। व्यूहरूपों में प्रत्येक के दो दो गुण प्रकाशित होते हैं। उनमें ज्ञान और बलसे युक्त संकर्षण जीवतत्त्व के अधिष्ठाता (नियामक) होकर उसे प्रकृति से विविक्त (पृथक्) कर और प्रद्युम्नावस्था को प्राप्त करके शास्त्र का प्रवर्तन और (प्रलयकाल में) जगत् का संहार करते हैं। ऐश्वर्य और वीर्य से युक्त प्रद्युम्न मन तत्त्व के अधिष्ठाता होकर धर्म का उपदेश तथा चार मनु आदि शुद्धवर्ग की सृष्टि करते हैं। शक्ति और तेज से युक्त अनिरुद्ध रक्षा, तत्त्वज्ञानप्रदान, कालसृष्टि और मिश्रसृष्टि करने में अधिकृत होते हैं।

व्याख्या-

त्रिपादविभूति में विद्यमान ईश्वर के परस्वरूप में ज्ञान, बल, वीर्य, ऐश्वर्य, शक्ति और तेज ये छः गुण पूर्णरूपसे प्रकाशित होते हैं। यद्यपि व्यूह स्वरूपों में भी ज्ञानादि सभी गुण पूर्णरूप से विद्यमान होते हैं, तथापि उनकी इच्छा से ही कार्यविशेष के लिए संकर्षणादि में दो-दो गुणों का पूर्ण प्रकाश और अन्य गुणों का न्यून प्रकाश होता है। उनमें गुणों का अभाव नहीं होता अतः भगवान् सभी रूपों में पूर्ण ही रहते हैं। पूर्ण प्रकाशित ज्ञान और बल इन दो गुणों से युक्त संकर्षण जीवतत्त्व के अधिष्ठाता होते हैं। प्रलयकाल में जीव नामरूपविभागके अभाववाला होकर प्रकृति के साथ भगवान् में लीन (स्थित) रहता है, उसे नामरूपविभागवाला करने के लिए प्रकृति से विविक्त करते हैं। भगवान् संकर्षण प्रद्युम्नावस्था को प्राप्त करके वेदशास्त्रका उपदेश करते हैं और प्रलयकाल में जगत् का संहार कर देते हैं। पूर्ण प्रकाशित ऐश्वर्य और वीर्य इन दो गुणों से युक्त प्रद्युम्न मनतत्त्व के अधिष्ठाता होते हैं और धर्मोपदेश करते हैं। जगत्पति परमात्मा ने मुख, बाहु, उरु, और पादसे ब्राह्मणादि चार मनु की सृष्टि की। ब्राह्मण दम्पती, क्षत्रियदम्पती, वैश्यदम्पती और शूद्रदम्पती ये सृष्टि के द्वार (साधन) चार मनु हैं- **मनूनां सर्गमकरोन्मुखबाहूरुपादतः। चतुर्णां**

ब्राह्मणादीनां सर्गद्वारं जगत्पतिः॥ द्विजयुग्मं क्षत्रयुग्मं वैश्ययुग्मं तथैव च। मिथुनं च चतुर्थस्य एतन्मनुचतुष्टयम्॥ (वि.सं.) चार मनु तथा आगे की सन्तानपरम्परा फलेच्छा से रहित होकर भगवदाराधनरूप कर्म करने वाली और परमात्मा को प्राप्य मानकर उनका ही चिन्तन करने वाली होती है, इसलिए उनको शुद्धवर्ग कहते हैं। इनकी सृष्टि के कर्ता भगवान् प्रद्युम्न हैं। पूर्ण प्रकाशित शक्ति और तेज गुण से युक्त भगवान् अनिरुद्ध होते हैं। वे जगत् की रक्षा करते हैं और संसार से उद्धार के लिए तत्त्वज्ञान प्रदान करते हैं। काल नित्य है, उसकी उत्पत्ति और विनाश नहीं होते हैं। अखण्ड काल के नित्य होने पर भी उसकी क्षणत्वादि अवस्थाएं आगन्तुक होती हैं। क्षणत्व अवस्थावाले क्षण (क्षणरूपकाल) का समूह ही निमेष, कला, काष्ठा तथा दिवसादि रूप काल है। क्षणत्व अवस्था के जनक श्रीभगवान् के होने से क्षणादि रूप काल भी उनसे जन्य कहा जाता है। विद्युत के समान वर्णवाले परमात्मा से निमेष, कला, काष्ठा और अहोरात्र ये सभी उत्पन्न हुए - **सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि। कलामुहूर्ताः काष्ठाश्चाहोरात्राश्च सर्वशः॥** (तै.ना.उ.8) ब्राह्मणादि वर्णों में जो केवल कर्मकाण्ड में आस्था रखने वाले, स्वतन्त्ररूप से (ईश्वर के विना) देवताओं की आराधना करने वाले रजोगुणी मनुष्य होते है और जो अशास्त्रीय कर्म करने वाले तमोगुणी मनुष्य होते हैं, उनकी सृष्टि मिश्रसृष्टि कहलाती है, उसे अनिरुद्ध करते हैं। भगवान् संकर्षणादि व्यूहरूपों में आविर्भूत होकर विविध कार्य करते हैं। यह विषय श्रीमद्भागवत् (12.11. 21-24) में वर्णित है और आगम शास्त्र में विस्तार से प्रतिपादित है।

28.विभवश्चानन्ता गौणमुख्यभेदेन द्विविधाश्च मनुष्यत्व-तिर्यक्त्वस्थावरत्ववत् गौणत्वमपीच्छाकृतम्, न स्वरूपतः। तेष्वप्राकृतविग्रहा अजहत्स्वभावविभवाः दीपोत्पन्नदीपतुल्याः मुख्यप्रादुर्भावाः सर्वेऽपि मुमुक्षूणामुपास्याः। विधिशिवपावक-व्यासजामदग्न्यार्जुनवित्तेशादयो गौणप्रादुर्भावाः सर्वेऽहंकारयु-क्तजीवाधिष्ठातृत्वाद् मुमूक्षूणामनुपास्याः।

अर्थ-

विभव अनन्त हैं। वे गौण और मुख्य भेद से दो प्रकार के होते हैं।

मनुष्यत्व, तिर्यक्त्व और स्थावरत्व के समान (विभव भगवान् का) गौणत्व भी (उनकी) इच्छा से है, स्वरूपतः नहीं है। उनमें (गौण और मुख्य विभवों में) सभी मुख्य अवतार मुमुक्षुओं के उपास्य हैं, वे अप्राकृतविग्रह वाले, अपने स्वभाव को न छोड़ने वाले और दीपसे उत्पन्न दीप के समान होते हैं। ब्रह्मा, शिव, अग्नि, व्यास, परशुराम, अर्जुन और कुबेर आदि सभी गौण अवतार अहंकार से युक्त जीव के अधिष्ठाता होने के कारण मुमुक्षुओं के उपास्य नहीं हैं।

व्याख्या-

विभव- भगवान् का देव, मनुष्यादि के (शरीरके) समान (शरीर को स्वीकार करके) प्रादुर्भाव (अवतार) विभव अवतार कहा जाता है- **विभवो नामेतरसजातीयत्वेनाविर्भावः** (वर.भा.)। भगवान् का देवके सजातीय रूप से आविर्भाव वामनावतार है, मनुष्य के सजातीय रूप से आविर्भाव श्रीरामकृष्णादि अवतार हैं। तिर्यक् के सजातीयरूप से आविर्भाव मत्स्य, कूर्मादि अवतार हैं। श्रीभगवान् के विभवावतार अनन्त हैं, उनमें मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बलराम और कल्कि ये दश अवतार प्रधान हैं। विभव के दो भेद होते हैं- गौण और मुख्य।

1. गौण विभव-

श्रीभगवान् के आवेशावतारों को गौणावतार कहते हैं। ब्रह्मा, शिव, परशुराम, कपिल, दत्तात्रेय, वेदव्यास और बुद्धादि गौणावतार हैं। इन अवतारों को मुख्यावतार नहीं माना जा सकता है, अन्यथा गीता के विभूति अध्याय में कपिलादि को विभूति कहना व्यर्थ होगा। गौण विभव भी दो प्रकार के होते हैं - (क)स्वरूपावेश (ख) शक्त्यावेश ।

(क) स्वरूपावेश-

स्वरूप अर्थात् अपने दिव्यमङ्गल विग्रह और गुणों के सहित श्रीभगवान् के आवेश (प्रवेश) को स्वरूपावेश विभवावतार कहते हैं। उत्तम कर्म करने वाले जीवविशेष के शरीर में अप्राकृत विग्रह और दिव्य गुणों के सहित श्रीभगवान् का आवेश स्वरूपावेशावतार होता है।

(ख)शक्त्यावेश -

विशिष्ट कार्यको सम्पन्न करने के लिए जीवविशेष के शरीर में सामर्थ्य मात्र से श्रीभगवान् के आवेश को शक्त्यावेश विभवावतार कहते हैं। इस सामर्थ्य से ही शक्त्यावेशावतार विशिष्ट कार्यो को निष्पन्न करते हैं। भगवान् के सभी अवतार सत्य ही होते हैं, जादूगर के वेश धारण करने के समान मिथ्या नहीं होते।

जैसे भगवान् का मनुष्य, तिर्यक् और स्थावर[1]रूप धारण करना उनकी इच्छा से होता है, वैसे ही उनके अवतारों का गौणत्व भी उनकी इच्छा से होता है। सृष्टिकर्ता ब्रह्मा, संहारकर्ता शिव-पावकादि, वेदों का विभाग करने वाले, पुराणों के रचयिता और ब्रह्मसूत्रके प्रणेता वेदव्यास, दुष्ट क्षत्रियों के संहारक परशुराम, पाण्डु के पुत्र अर्जुन इत्यादि गौणावतार हैं। महत्, अहंकार, एकादश इन्द्रियाँ, प्राण और पञ्चभूतों से युक्त जीव होते हैं। ब्रह्मा, शिव आदि उच्चकोटि के देवता हैं, इनके सुकृत अधिक होने से भगवान् ने इन सबको आधिकारिक पदों पर नियुक्त किया है, इनके शरीर मानव शरीर की अपेक्षा विलक्षण होने पर भी प्राकृत ही हैं। स्वातन्त्र्यरूप अहंकार से युक्त जीवविशेष के अधिष्ठाता भगवान् भी ब्रह्मा आदि शब्दों से कहे जाते हैं। वे गौणावतार स्वातन्त्र्यरूप अहंकार से युक्त जीवविशेष के अधिष्ठाता होने से मुमुक्षुओंके उपास्य नहीं हैं। मुख्य (साक्षात्) अवतार ही उनके उपास्य हैं।

2. मुख्य विभव -

श्रीभगवान् का अप्राकृत विग्रह और दिव्यगुणविशिष्ट रूप से साक्षात् आविर्भाव मुख्य अवतार कहलाता है, यह विभव साक्षादवतार और पूर्णावतार भी कहा जाता है। कभी त्रिपादविभूति में विद्यमान भगवान् के शुद्धसत्त्वमय परविग्रह के अंश से अवतार विग्रह होते हैं। कभी व्यूह के विग्रह से अवतारविग्रह होते हैं और कभी यहीं नित्य विद्यमान विभव भगवान् का विग्रह नेत्रों का विषय बन जाता है। सभी अवतारों के अप्राकृत

....

टिप्पणी - 1. लघुकाय ऋषिके निर्वाह के लिए श्रीभगवान् का फलयुक्त लघु आम्रवृक्षरूप में अवतार आगमशास्त्र में प्रसिद्ध है।

शुद्धसत्त्वमय ही विग्रह होते हैं। भगवान् अपने अजत्व, अव्ययत्व और सर्वेश्वरत्वादि स्वभाव को न छोड़ते हुए ही अवतरित होते हैं। मैं अजन्मा, अविनाशीरूप और सभी प्राणियों का ईश्वर रहते हुए भी अप्राकृत विग्रह को लेकर अपने संकल्प से अवतरित होता हूँ- **अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।।**(गी. 4.6) जैसे एक दीप से दूसरे दीप प्रज्वलित होते हैं। प्रकाशकत्व उन सभी का स्वभाव होता है। वैसे ही भगवान् के एकरूप से दूसरे रूप अवतरित होते हैं। उन सभी के अप्राकृत विग्रह तथा अजत्वादि स्वभाव होते हैं। उक्त विशेषताओं से युक्त सभी मुख्य विभव मुमुक्षुओं के उपास्य होते हैं।

पूर्व में कहे गये पर, व्यूह और मुख्य विभव के अवान्तर भेद, उनकी भुजा, आयुध और वर्णों का भेद नहीं कहा गया। इसमें हेतु कहते हैं -

29.नित्योदितशान्तोदितादिभेदः जाग्रतसंज्ञादिचातुरात्म्यम्, केशवादिमूर्त्यन्तराणि, षट्त्रिंशद्भेदभिन्नाः पद्मनाभादिविभवाः, उपेन्द्रत्रिविक्रमदधिभक्तहयग्रीवनरनारायणहरिकृष्णमत्स्यकूर्मवराहाद्यवतारविशेषाः, तदीयभुजायुधवर्णकृत्यस्था- नादिभेदाश्च दुरवधारतया गुह्यतमतया चात्र नोच्यन्ते।

अर्थ-

नित्योदित, शान्तोदित आदि भेद, जाग्रतसंज्ञादि चातुरात्म्य, केशवादि व्यूहान्तर, छत्तीस भेद वाले पद्मनाभादि विभव, उपेन्द्र, त्रिविक्रम, दधिभक्त, हयग्रीव, नर-नारायण, हरि, कृष्ण, मत्स्य, कूर्म और वराहादि अवतारविशेष तथा उनकी भुजा, आयुध, वर्ण, कार्य और स्थानादिभेद समझने में कठिन होने से और गोपनीय होने से यहाँ नहीं कहे जाते हैं।

व्याख्या-

नित्योदित, शान्तोदित-

त्रिपादविभूति में विद्यमान नित्य और मुक्तों के अनुभाव्य वासुदेव

भगवान् पर हैं। वे नित्योदित कहे जाते हैं, इन नित्योदित वासुदेव से शान्तोदित वासुदेव प्रादुर्भूत होते हैं- **नित्योदितात् संबभूव तथा शान्तोदितो हरिः।** (वि.सं.) ये शान्तोदित वासुदेव तीनों व्यूहों के कारण होते हैं।

चातुरात्म्य-

जाग्रत नाम (संज्ञा) वाले अनिरुद्ध, स्वप्न नामवाले प्रद्युम्न, सुषुप्ति नामवाले संकर्षण और तुरीय नामवाले वासुदेव ये चार व्यूह चातुरात्म्य कहे जाते हैं। ये पर वासुदेव से आविर्भूत होते हैं। ज्ञानादि छः गुण सदा आविर्भूत होनें से व्यूह वासुदेव (शान्तोदित वासुदेव)का पर वासुदेव (नित्योदित वासुदेव) में अन्तर्भाव मानने पर तीन व्यूह कहे जाते हैं। जाग्रत अवस्था वाले और इन्द्रिय के अधीन ज्ञान वाले जीव के अधिष्ठाता भगवान् अनिरुद्ध को विश्व कहते हैं। स्वप्नावस्था वाले और मन के अधीन ज्ञानवाले जीव के अधिष्ठाता भगवान् प्रद्युम्न को तैजस कहते हैं। जाग्रत और स्वप्न अवस्था के संस्कार से तथा अज्ञान से युक्त सुषुप्ति अवस्था वाले जीव के अधिष्ठाता भगवान् संकर्षण को प्राज्ञ कहते हैं। सर्वविषयक ज्ञान और मुक्तावस्था वाले जीव के अधिष्ठाता भगवान् वासुदेव को तुरीय कहते हैं।

केशवादि मूर्त्यन्तर -

उक्त चार व्यूह से केशवादि द्वादश व्यूह होते हैं। वासुदेव से केशव, नारायण और माधव का प्रादुर्भाव होता है। संकर्षण से गोविन्द, विष्णु और मधुसूदन का आविर्भाव होता है। प्रद्युम्न से त्रिविक्रम, वामन और श्रीधर का प्राकट्य होता है और अनिरुद्ध से हृषीकेश, पद्मनाभ और दामोदर का आविर्भाव होता है। ये द्वादश मासों एवं द्वादश आदित्यों के अधिष्ठाता देवता होते हैं। द्वादश ऊर्ध्वपुण्ड्रों में इनका ही न्यास (स्थिति) किया जाता है। उपासकों के कष्ट की निवृत्ति के लिए केशवादि व्यूह उनके शरीर के रक्षक होते हैं- **शरीररक्षकाश्चैते ध्यायिनां खेद शान्तये** (पां.सं.)।

भगवान् के पद्मनाभ आदि विभवरूप पाञ्चरात्रागमान्तर्गत अहिर्बुध्न्य संहिता और विष्वक्सेन संहिता में वर्णित हैं। इन्द्र के सहयोगी होकर जगत् की रक्षा करने के लिए उनके अनुज रूप में अवतीर्ण उपेन्द्र हैं। वही

विशालरूप धारण करके त्रिलोकी को नापकर इन्द्र को पुनः ऐश्वर्य प्रदान करने वाले त्रिविक्रम हैं। अमृत प्रदान करने के लिए अवतरित दधिभक्त हैं। सृष्टिरचना में अत्यन्त व्यस्त ब्रह्माजी को देखकर मधु और कैटभ नामक दैत्यों के द्वारा हरण किय गए वेदों का उद्धार करने के लिए अवतरित हयग्रीव हैं। शिष्य - आचार्यरूप में अवतरित होकर तप का आचरण करने वाले नर-नारायण हैं। आर्त भक्त गजेन्द्र की ग्राह से रक्षा के लिए अवतरित हरि हैं। मोक्ष के उपायचिन्तन के लिए उपयोगी विविध लीला करने के लिए अवतीर्ण श्री कृष्ण हैं। वेदों के अपहर्ता हयग्रीव नामक दैत्य का हनन करके ब्रह्मा को वेदप्रदान करने केलिए प्रादुर्भूत मत्स्य हैं। अमृत की उत्पत्ति के लिए मन्दराचल के आधाररूप से अवतीर्ण कूर्म हैं। पृथिवी का उद्धार करने के लिए अवतीर्ण वराह हैं। पद्मनाभादि विभव, उपेन्द्र, त्रिविक्रम, दधिभक्त, हयग्रीव, नर- नारायण, हरि, कृष्ण, मत्स्य, कूर्म और वराहादि रूप ये अवतार विशेष, इनकी भुजाएं, आयुध, वर्ण (शुक्लादि), कार्य और स्थानादिभेद दुरवबोध तथा गोपनीय होने से यहाँ वर्णित नहीं होते हैं। इस विषय को अन्यत्र देखना चाहिए।

30.अवतराणां हेतुरिच्छा, फलं साधुपरित्राणादित्रयम्। बहुषु प्रमाणेषु भृगुशापादिभिरजायतेत्युक्त्याऽवताराणां हेतुः कर्म न भवेत् किम् इति चेत् शापो व्याजमात्रम्, अवतारास्त्वैच्छिक एवेति तत्रैव समाहितम्।

अर्थ-

(भगवान् के) अवतारों का हेतु इच्छा है। साधुपरित्राणादि तीन फल हैं। बहुत प्रमाणों में 'भृगु के शाप आदि से अवतार लिया।' इस कथन से अवतार का हेतु कर्म क्यों न हों? (तो इसका उत्तर है-) शाप बहाना मात्र है, अवतार तो इच्छा से ही होते हैं, इस प्रकार वहीं समाधान किया गया है।

व्याख्या-

अवतार का हेतु -

कर्माधीन जन्म न लेनेवाला परमात्मा श्रीराम, कृष्णादि विविध रूपों

में अवतार लेता है- **अजायमानो बहुधा विजायते।** (य.सं.31.19) मेरे बहुत से अवतार हो चुके हैं- **बहूनि में व्यतीतानि जन्मानि**(गी.4.5)। इस प्रकार वर्णित भगवान् के अवतारों का हेतु उनकी इच्छा ही है। अपनी इच्छा (संकल्प) से अवतार लेता हूँ- **संभवाम्यात्ममायया।।**(गी.4.6) इस प्रकार श्रीभगवान् ने स्वयं अपने अवतार का हेतु इच्छा को कहा है । **माया वयुनं ज्ञानम्** (नि.ध.22) इस निघण्टु वचन के अनुसार माया शब्द ज्ञान का बोधक है। इच्छा भी संकल्पात्मक ज्ञानविशेष है। **विप्र धेनु सुर सन्त हित लीन्ह मनुज अवतार। निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गोपार।।** (रा.च.मा.1.192) इस प्रकार श्रीरामचरितमानसमें भी अवतार का हेतु भगवद्- इच्छा कही गयी है।

अवतार का फल -

श्रीभगवान् के अवतार का फल साधुपरित्राण, दुष्टविनाश और ध र्मसंस्थापन है। दर्शन के विना एक क्षण भी जीवित रहने में समर्थ न होने वाले, दर्शन के लिए व्याकुल रहने वाले और शीघ्र दर्शन की कामना करने वाले भक्तों को अपने लोकोत्तर सुन्दर, अप्राकृत, दिव्यमंगलविग्रह का दर्शन कराकर उनका स्पर्श और उनके साथ मधुर वार्तालाप करके रक्षा करने के लिए, उनके विरोधियों का नाश करने के लिए और क्षीण हुए आराधनारूप वैदिक धर्म की स्थापना करने के लिए प्रत्येक युग में अवतार लेता हूँ- **परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। ध र्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।** (गी.4.8) श्रीभगवान् अपनी इच्छा से अवतार विग्रह को धारण करने वाले हैं- **इच्छागृहीताभिमतोरुदेहः** (वि.पु.6.5.84)। **जब जब होई धरम कै हानी। बाढहि असुर अधम अभिमानी।।** (रा.च.मा.1.120.6) **तब तब प्रभु धरि मनुज शरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा।।** (रा.च.मा.1.120.8) अवतार के विविध फलों में भक्तपरित्राण ही मुख्य फल है। दुष्टों का विनाश तो भगवान् के संकल्प मात्र से भी संभव है। धर्मोपदेश और उसके अनुष्ठान द्वारा धर्मसंस्थापन वेदव्यासादि से भी संभव है किन्तु अपने दिव्यरूप का दर्शन कराके भक्तों के मन और नेत्रों का हरण करके उत्तरोत्तर भक्ति को उत्पन्न करना ही अवतार का असाधारण फल है।

शंका-

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण(7.51) में उल्लिखित एक कथानक के अनुसार देवासुरसंग्राप में निर्दोष जनों के हन्ता अधर्मी असुरों को आश्रय प्रदान करने के कारण भगवान् विष्णु ने भृगु की पत्नी का वध कर दिया। भगवान् के इस कर्म से क्रुद्ध होकर भृगु ने उनको शाप दिया कि आपको मृत्युलोक में जन्म लेकर बहुत दिनों तक पत्नीविरह का दु:ख सहन करना पड़ेगा। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् के जिस कर्म के कारण भृगु ने शाप दिया, वह कर्म और कर्म के कारण प्राप्त होने वाला शाप उनके अवतार का हेतु है।

समाधान -

यह शंका उचित नहीं है क्योंकि वहीं पर यह वर्णन है कि शाप देने के उपरान्त भृगु के चित्त में बड़ा पश्चात्ताप हुआ और सर्वसमर्थ, अकर्मवश्य भगवान् को दिए गये शाप की विफलता के भय से पीड़ित होकर उन्होंने भगवान् से शाप को स्वीकार कराने के लिए उनकी आराध ना की। आराधना से प्रसन्न भक्तवत्सल भगवान् विष्णु ने कहा कि सम्पूर्ण संसार का हित करने के लिए मैं शाप को स्वीकार करुँगा। इस वृत्तान्त से सिद्ध होता है कि शाप या शाप का कारण कर्म उनके अवतार का हेतु नहीं है, अवतार का हेतु इच्छा ही है।

विभव का प्रतिपादन करके अब अन्तर्यामी स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं-

31.अन्तर्यामित्वं नाम अन्तः प्रविश्य नियन्तृत्वम्, स्वर्गनरकप्रवेशाद्यवस्थास्वपि सर्वेषां चेतनानां सहायीभूय तदपरित्यागेनावस्थानम्, अथ च शुभाश्रयभूतदिव्यविग्रहविशिष्टतया तेषां ध्येयार्थ तेषां रक्षणार्थ च बन्धुभूय हृदयकमलेऽवस्थानं च।

अर्थ-

(सबके) अन्दर प्रवेश करके नियमन करने वाले ईश्वर अन्तर्यामी

कहे जाते हैं। वे स्वर्ग, नरक में प्रवेश करने आदि अवस्थाओं में भी सभी चेतनों के सहायक होकर उनको न छोड़ते हुए स्थित रहते हैं और शुभाश्रयभूत दिव्यविग्रहविशिष्ट रूपसे चेतन आत्माओं के ध्येय बनने के लिए और उनकी रक्षा करने के लिए बन्धु होकर हृदय कमल में स्थित रहते हैं।

व्याख्या -

अन्तर्यामी-

सर्वात्मा भगवान् सभी के भीतर रहकर शासन करते हैं - **अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा** (तै.आ.3.11.3)। जो आत्मा में रहते हुए आत्मा के भीतर है, जिसे आत्मा नहीं जानती है। आत्मा जिसका शरीर है, जो आत्मा के भीतर रहकर नियमन करता है, वह निरुपाधिक भोग्य परमात्मा तेरा अन्तर्यामी है- **य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यम् आत्मा न वेद, यस्य आत्मा शरीरम्, य आत्मानम् अन्तरो यमयति, एष त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः** (बृ.उ.मा.पा.3.7.26)। हे अर्जुन! ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय स्थान में निवास करते हैं- **ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।** (गी.18.61) इत्यादि वचन सभी के अन्दर प्रवेश करके नियमन करने वाले अन्तर्यामी ईश्वर का प्रतिपादन करते हैं।

अन्तर्यामीरूप से भगवान् की स्थिति दो प्रकार की होती है- पुण्य के कारण स्वर्ग तथा पाप के कारण नरक में प्रवेश करने और निकलने की अवस्था में, गर्भवास आदि की अवस्था में और मुक्तावस्था में भी सभी आत्माओं के सहायक होकर और कभी भी परित्याग न करके उनमें (आत्माओं में) स्थित रहने वाले अन्तर्यामी भगवान् हैं।

ध्यान में रुचि उत्पन्न करके ध्येय बनने के लिए और रक्षा करने के लिए बन्धु (सुहृद) होकर हृदयकमल में शुभाश्रयभूत, दिव्यमंगलविग्रहविशिष्ट रूप से विराजमान भगवान् अन्तर्यामी हैं। अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाले तथा धूमरहित अग्नि के समान प्रकाशमान विग्रह से विशिष्ट अन्तर्यामी भगवान् उपासक के हृदयकमल में रहते हैं-

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति (क.उ.2.1.12)। **अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः** (क.उ.2.1.13)। शुभाश्रय की व्याख्या अर्चावतार के निरूपण में की जायेगी।

अब अर्चावतार का निरूपण करते हैं-

32.अर्चावतारो नाम 'तमरुहन्ददेब्वुरुवम्' इत्युक्तप्रकारेण चेतनाभिमतद्रव्यविशेषे विभवविशेषवद् देशकालाधिकारिनियमम् अन्तरैव अपराधान् अपश्यतोऽर्चकपरतन्त्रसमस्तव्यापारवत आलयेषु गृहेषु चावस्थानम्।

अर्थ-

"भगवान् भक्तों के अनुकूल अर्चाविग्रह धारण कर लेते हैं।" इस सूक्ति के अनुसार अपराधों को न देखते हुए तथा अर्चक के अधीन समस्त कार्योंवाले विभवविशेष के समान, देश-काल और अधिकारी के नियम के विना ही देवालय और घर में भक्तों के अभीष्ट द्रव्यविशेष (मूर्ति) में रहने वाले ईश्वर अर्चावतार कहलाते हैं।

व्याख्या -

अर्चावतार-

श्रीरामावतार के लिए अयोध्यादेश, त्रेतायुग और दशरथ - कौशल्या आदि अधिकारी व्यक्ति अपेक्षित होते हैं, वे ग्यारह हजार वर्ष तक प्रकट होकर विद्यमान रहते हैं। श्रीकृष्णावतार के लिए मथुरादेश, द्वापर युग और वसुदेव-देवकी आदि अधिकारी व्यक्ति अपेक्षित रहते हैं। वे 125 वर्ष तक प्रकट होकर विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार विभवावतारों के लिए निश्चित देश, काल और अधिकारी का नियम है किन्तु अर्चावतार के लिए देश, काल और अधिकारी का कोई नियम नहीं है क्योंकि वे सर्वसुलभ होने के लिए अत्यन्त दया के वशीभूत होकर आश्रित भक्त की रुचि के अनुरूप सभी देश और सभी काल में विद्यमान होकर उनकी आराधना को स्वीकार करके इष्टफल प्रदान करते हैं। वे देवालय और घर

में भक्त के अभिमत सुवर्ण, रजत, पाषाण और काष्ठ आदि की प्रतिमाओं को अपने शरीररूप से स्वीकार करके उसमें रहते हैं। उनके जागरण, स्नान, भोजन और शयनादि सभी कार्य अर्चक के अधीन रहते हैं, वे सर्वसमर्थ होने पर भी अत्यन्त सहिष्णु हैं, इसलिए किसी के भी द्वारा किए गए अपराधों को नहीं देखते हैं। श्रद्धा-भक्तिपूर्वक प्रतिमा की प्रतिष्ठा के समय अप्राकृत विग्रहधारी भगवान् आकर उस प्रतिमा में विराजमान होते हैं, इसलिए प्रतिमा भी उनका दिव्य शरीर हो जाती है। **अर्चावतारोऽपि च देशकालप्रकर्षहीनः श्रितसम्मतश्च। सहिष्णुर- प्राकृतदेहयुक्तः पूर्णोऽर्चकाधीनसमात्मकृत्यः॥** (श्रीवै.म.भा.5.11)

अब उनके गुणों का वर्णन किया जाता है-

33.रुचिजनकत्वम्, शुभाश्रयत्वम्, अशेषलोकशरण्यत्वं चेति सर्वमर्चावतारे परिपूर्णम्।

अर्थ-

रुचिजनकता, शुभाश्रयता तथा सम्पूर्ण लोकों का रक्षक होना ये सभी गुण अर्चावतार में परिपूर्ण होते हैं।

व्याख्या-

जो सांसारिक विषयों में आसक्त होने के कारण भगवद्विमुख हो गये हैं इसलिए जिनको शास्त्र के नियम भी विषय से विमुख नहीं कर पाते हैं। अर्चावतार उनको अपनी सुन्दरता और उदारता आदि गुणों से विषयविमुख कराके आत्मसात करने के लिए अपने प्रति रुचि को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार रुचि को उत्पन्न करना ही अर्चावतार का रुचिजनकत्व गुण है। रुचि उत्पन्न करने के पश्चात् भजन करने वाले के भोग्य (अनुभाव्य) होने के अनुकूल शुभाश्रय होते हैं। शुभाश्रय वस्तु ही निरतिशय भोग्य होती है। निरतिशय भोग्य होने के लिए चित्त का आलम्बन बनना ही शुभाश्रयत्व गुण है। अर्चावतार सम्पूर्ण लोकों के रक्षक हैं, वे किसी भी प्रकार के दोषों का विचार न करके कष्टों से

सबकी रक्षा करते हैं।

अब अर्चावतार की अन्य विशेषता को कहते हैं-

34.स्वस्वामिभावव्यत्यासेन अज्ञवदशक्तवदस्वतन्त्रवच्च वर्तमानोऽपि अपारकारुण्यपरवशस्सन् सर्वापेक्षितानि ददाति।

ईश्वरप्रकरणं समाप्तम्।
श्रीलोकाचार्यविरचितं तत्त्वत्रयं समाप्तम्।

अर्थ-

अर्चावतार में स्वस्वामीभाव की विपरीतता होने के कारण भगवान् अज्ञानी, असमर्थ और पराधीन के समान रहने पर भी अपार करुणा के वशीभूत होकर सभी अपेक्षित फलों को देते हैं।

व्याख्या-

भगवान् सभी प्राणियों के सभी प्रकार के ज्ञान का कारण है तथा इन्द्रियोंके अधिष्ठाता जीव का स्वामी है- **स कारणं करणाधिपाधिपः॥** (श्वे.उ.6.9) भगवान् प्रकृति और पुरुष का स्वामी है- **प्रधानक्षेत्रज्ञपतिः।** (श्वे.उ.6.16) इत्यादि वचनों से भगवान् स्वामी और अर्चक स्व (अधीन वस्तु) सिद्ध होते हैं किन्तु अर्चावतार में स्वस्वामिभाव की विपरीतता अर्थात् भगवान् स्व और अर्चक स्वामी हो जाते हैं। जो सबको स्वरूपतः जानता है और प्रकारतः जानता है- **यः सर्वज्ञः सर्ववित्** (मु.उ. 1.1.10)। ईश्वर की स्वाभाविक पराशक्ति, सर्वविषयक ज्ञान, सबको ध ारण करने का सामर्थ्य और नियमन करने का सामर्थ्य विविध प्रकार का सुना जाता है- **परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।** (श्वे.उ.6.8) ईश्वर का कोई जनक नहीं है और कोई स्वामी नहीं है- **न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः**(श्वे.उ.6-9) इत्यादि श्रुतियाँ भगवान् को ज्ञानवान्, समर्थ और स्वतन्त्र बताती हैं किन्तु स्वस्वामीभाव की विपरीतता होने के कारण वे सब कुछ जानते हुए भी न जानने वाले के

समान, सर्वसमर्थ होने पर भी असमर्थ के समान और सबके स्वामी होने पर भी पराधीन के समान रहते हैं। अर्चक जब जिस परिस्थिति में भगवान् को रखता है, तब वे उसी परिस्थिति में रहते हैं। अर्चक जब स्नान कराता है तब वे स्नान करते हैं, अर्चक जब नैवेद्य अर्पित करता है, तब वे नैवेद्य स्वीकार करते हैं। इतना होने पर भी वे करुणारहित नहीं होते हैं। वे अपनी अपार करुणा से भक्तों को सभी मनोवाञ्छित फल प्रदान करते हैं।

ईश्वरप्रकरण की व्याख्या समाप्त।

प्रेरणा रामसीतायाः प्रेरितेन तयैव च।
श्रीत्रिभुवनदासेन व्याख्या कृता मनोरमा।। 1 ।।
कनकभवनाधीशः सीतया सह राजते।
समर्प्यते कृती रम्या तयोः पादारविन्दयोः।। 2 ।।

परिशिष्ट - 1

संकेताक्षरानुक्रमणिका

1.	अ.सं.	अत्रिसंहिता
2.	अ.सू.	अष्टाध्यायीसूत्रम्
3.	क.उ.	कठोपनिषत्
4.	ग.प.उ.	गणेशपूर्वतापनीयोपनिषत्
5.	गी.	गीता(श्रीमद्भगवद्गीता)
6.	छां.उ.	छान्दोग्योपनिषत्
7.	त.मु.क.	तत्त्वमुक्ताकलापः
8.	ता.दी	तात्पर्यदीपिका(वेदार्थसंग्रहस्य व्याख्या)
10.	तै.उ.	तैत्तिरीयोपनिषत्
11.	नि.	निरुक्तम्
12.	नि.ध.	निघण्टु–धर्मवर्गः
13.	न्या.सि.अ	न्यायसिद्धाञ्जन- अद्रव्यपरिच्छेदः
13.	न्या.सू.	न्यायसूत्रम्
14.	प.पु.उ.ख.	पद्मपुराण–उत्तरखण्डः
15.	पां. सं.	पाञ्चरात्रसंहिता
16.	बृ.उ.	बृहदारण्यकोपनिषत्
17.	बृ.उ.मा.पा.	बृहदारण्यकोपनिषत्–माध्यन्दिन पाठः
18.	बृ.उ.रं.भा.	बृहदारण्यकोपनिषत्–रङ्गरामानुजभाष्यम्
19.	ब्र.सू.	ब्रह्मसूत्रम्
20.	म.उ.	महोपनिषत्
21.	मु.उ.	मुण्डकोपनिषत्
22.	भा.	भागवतम् (श्रीमद्भागवतम्)
23.	म.भा.शां.	महाभारत - शान्तिपर्व
24.	वर.भा	वरवरमुनिभाष्यम् (तत्त्वत्रयस्य)

25.	वा.पु.	वामनपुराणम्
26.	वा.रा.	वाल्मीकीयरामायणम्
27.	वि.पु.	विष्णुपुराणम्
28.	वि.सं.	विष्वकसेनसंहिता
29.	वि.स.	विष्णुसहस्रनाम
30.	श.श्रु.भा.	शरणागतिगद्यस्य श्रुतप्रकाशिकाभाष्यम्।
31.	श्रीभा.	श्रीभाष्यम्
32.	श्रीभा.प्र	श्रीभाष्यप्रकाशिका
33.	श्रीभा.मं.	श्रीभाष्यस्य मङ्गलाचरणम्
34.	श्रीवै.म.भा	श्रीवैष्णवमताब्जभास्करः
35.	रा.च.मा.	रामचरितमानस
36.	श्वे.उ.	श्वेताश्वतरोपनिषत्
37.	स.गी.	सहस्रगीतिः
38.	स.सि.	सर्वार्थसिद्धिः (तत्त्वमुक्ताकलापस्य व्याख्या)

परिशिष्ट - 2

प्रमाणानुक्रमणिका

परिशिष्ट - 3

ग्रन्थानुक्रमणिका

अर्थपञ्चक

हिन्दी व्याख्या सहित,
व्याख्याकार स्वामी त्रिभुवनदास, मंगलम् कुटीरम्,
गंगा लाइन स्वर्गाश्रम, ऋषिकेश, सन् 2010

अष्टादश स्मृति

भाषा टीका सहित, नागप्रकाशन दिल्ली, सन् 1990

आप्टे संस्कृत-हिन्दी कोश

वामन शिवराम आप्टे, नाग प्रकाशन दिल्ली, सन् 1988

ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषदः-

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सन् 1990

ईशावास्योपनिषत्

तत्त्वविवेचनी हिन्दी व्याख्या सहित
व्याख्याकार स्वामी त्रिभुवनदास, चौखम्बा संस्कृतप्रतिष्ठान 38,
यू.ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली, सन् 2013

उपनिषद्वाक्यमहाकोशः (भाग-1)

शास्त्री गजानन साथले, रूपा बुक्स प्रा.लि. जयपुर, सन् 1991

उपासना दर्पण

सम्पादक स्वामी त्रिभुवनदास,
मलूकपीठ, वंशीवट, वृन्दावन, मथुरा, सन् 2010

केनोपनिषत्

तत्त्वविवेचनी हिन्दी व्याख्या सहित, व्याख्याकार स्वामी त्रिभुवनदास,,
चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली, सन् 2015

कठोपनिषत्

तत्त्वविवेचनी हिन्दी व्याख्या सहित,व्याख्याकार स्वामी त्रिभुवनदास,,
चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली, सन् 2015

तत्त्वत्रयम्

श्रीलोकाचार्यस्वामिभिः द्राविड्यामनुग्रहीतम्,
श्रीमदनन्ताचार्यस्वामिभिः संस्कृतेऽनूदितम्, छात्रतोषिणी
संस्कृतव्याख्यया हिन्दी आमोदेन, पाठभेदेन च समलंकृतम्,
व्याख्याकार- श्री शिवप्रसाद द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन
केन्द्र, बाराबंकी - फैजाबाद।

तत्त्वत्रयम्

श्रीमल्लोकाचार्यप्रणीतम्,
श्रीमद्वरवरमुनिकृत भाष्योपेतम्, सम्पादको प्रकाशकश्च
श्रीस्वामिमधुसूदनाचार्यः, श्रीलक्ष्मीवेंकटेश मन्दिर, श्री वैष्णव
टोला, पो. त्रिवेणी, जि.-नवलपरासी लु.अ.(नेपाल) वि.सं. 2043

तत्त्वमुक्ताकलापः

श्रीवेंकटनाथ महादेशिकप्रणीतः श्रीवरदाचार्यकृत
सर्वङ्कषाव्याख्या सहितः, आर्षग्रन्थप्रकाशन 2842 पम्पति रोड,
जयनगर मैसूर, सन् 2004

तत्त्वमुक्ताकलापः (भाग - 2)

श्रीवेंकटनाथमहादेशिकप्रणीतः व्याख्यात्रयोपेतः,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालयः वाराणसी, सन् 1996

तर्कसंग्रहः

महामहापाध्यायैः अन्नम्भट्टैर्विरचितः
न्यायबोधिनी - पदकृत्य- बालमनोरमा- परीक्षा टीकाऽलंकृतः
संस्कर्ता श्री गुरु प्रसाद शास्त्री, प्रकाशक - भार्गव पुस्तकारलय
गाय घाट बनारस, वि.सं. 2001

निरुक्तम्

यास्कमुनि प्रणीतम्, निघण्टुभाष्यरूपम्, मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास
दिल्ली, सन् 1982

न्यायदर्शनम्

वात्स्यायनभाष्यविश्वनाथकृत वृत्तिसहितम्
चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली, सन् 1986

परमपद सोपान
श्रीवेंकटनाथ विरचित, हिन्दी व्याख्याकार - पं. नीलमेघाचार्य
श्रीरंगनाथ प्रेस, वृन्दावन, सन् - 1995

ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्
श्रीशंकराचार्यप्रणीतम्,
श्रीसत्यानन्दसरस्वती विरचितेन भाषानुवादेन सत्यानन्दीदीपिकया च समलंकृतम्, गोविन्दमठ टेढ़ीनीम वाराणसी, वि.सं. 2028

मानसवर्णानुक्रमणिका
सत्साहित्यप्रकाशन संस्थान दिव्यधाम आश्रम दीनानाथकालोनी पो.नूरवाला,पानीपत्, वि.सं- 2058

मीमांसान्यायप्रकाशः
आपदेवकृतः
महामहोपाध्यायः वासुदेवशास्त्रिविरचितप्रभाव्याख्या संवलितः,
भण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट पुणे, सन् 1972

मुण्डकोपनिषत्
प्रतिपदार्थदीपिका-प्रकाशिका-आनन्द-सुबोधि
न्याख्यभाष्यचतुष्टयोपेता, संस्कृत संशोधन संसत् मेलुकोटे, सन् 2005

यतीन्द्रमतदीपिका -
श्रीनिवासाचार्यप्रणीता, श्री तिरुनांगूर अण्णङ्गराचार्यविरचितया लघुवर्तिकानाम्न्या व्याख्यया समन्विता, श्रीरंगनाथ प्रेस वृन्दावन, वि.सं. 2033

रामायणम् (तृतीयो भागः)
श्रीमद्वाल्मिकिमहामुनिप्रणीतम्,
रामप्रणीत रामायणतिलक-शिवसहायप्रणीतरामायणशिरोमणि-गोविन्दराजप्रणीतरामायणभूषणेति टीका त्रयेणोपस्कृतम्,
परिमल पब्लिकेशन्स दिल्ली, सन् 1991

लघुसिद्धान्तकौमुदी
श्रीवरदराजाचार्य विरचिता, गीताप्रेस गोरखपुर, वि.सं. 2043

विशिष्टाद्वैतकोशः (प्रथमः सम्पुटः)
संस्कृत संशोधन संसत्, मेलुकोटे, सन् 1983

विशिष्टाद्वैतकोशः (द्वितीयः सम्पुटः)
संस्कृत संशोधन संसत्, मेलुकोटे, सन् 1987

विशिष्टाद्वैतकोशः (तृतीयः सम्पुटः)
संस्कृत संशोधन संसत्, मेलुकोटे, सन् 1989

विशिष्टाद्वैतकोशः (चतुर्थः सम्पुटः)
संस्कृत संशोधन संसत्, मेलुकोटे, सन् 1994

विशिष्टाद्वैतकोशः (पञ्चमः सम्पुटः)
संस्कृत संशोधन संसत्, मेलुकोटे, सन् 1996

विशिष्टाद्वैतकोशः (सप्तमः सम्पुटः)
संस्कृत संशोधन संसत्, मेलुकोटे, सन् 2005

विशिष्टाद्वैतकोशः (नवमः सम्पुटः)
संस्कृत संशोधन संसत्, मेलुकोटे, सन् 2009

विशिष्टाद्वैतवेदान्त का विस्तृत विवेचन
स्वामी त्रिभुवनदास, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली,
सन् 2013

वेदान्तदीप (भाग - 2)
श्रीरामानुजाचार्यविरचित, हिन्दी व्याख्याकार पं. नीलमेघाचार्य,
आचार्य पीठ बरेली, सन् 1963

वेदार्थसंग्रह
श्रीरामानुजाचार्य विरचित,
हिन्दी व्याख्या सहित, व्याख्याकार पं. नीलमेघाचार्य,
आचार्यप्रेस बरेली, सन् 1961

वेदार्थसंग्रहः
श्रीरामानुजाचार्यविरचितः,
पं.रामवदनशुक्लकृत चन्द्रिकातिलकव्याख्यासहितः,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, सन् 1991

वेदार्थसंग्रहः

श्रीरामानुजाचार्यविरचितः
श्रीसुदर्शनसूरिकृत- तात्पर्यदीपिकाव्याख्यासंवलितः,
पं. रामदुलारे शास्त्री, विष्णुपुरा ढखवा बाजार गोरखपुर,
वि.सं. 1998

शांकरवेदान्तकोशः

प्रणेता सम्पादकश्च पं. मुरलीधरपाण्डेयः,
सम्पूर्णानन्द संस्कृतविश्वविद्यालयः वाराणसी, वि.सं. 2055

श्री पद्ममहापुराणम् (तृतीयो भागः)

नाग पब्लिशर्स दिल्ली, सन् 1984

श्री पद्ममहापुराणम् (चतुर्थो भागः)

नाग पब्लिशर्स दिल्ली, सन् 1984

श्रीभाष्यप्रकाशिका

श्रीनिवासाचार्यविरचिता, मद्रास गवर्नमेन्ट ओरिएन्टल मैनुस्क्रिप्टस् सीरीज नं-12,भारतीविजयम् प्रेस मद्रास, सन्-1956

श्रीभाष्यम्

(विमर्शनात्मक सम्पादनम्), - (तृतीय सम्पुटम्)
श्रीमद्रामानुजाचार्यविरचितम्, संस्कृत संशोधन संसत्
मेलुकोटे कर्नाटक, सन् 1990

श्रीभाष्यम् (भाग - 1)

भाष्यार्थदर्पणसमेतम्,
श्रीरङ्गम्   श्रीगद् आण्डवन आश्रम तमिलनाडु, सन् 1997

श्रीभाष्यम् (खण्ड - 2)

श्रीमद्रामानुजविरचितम्, श्रीसुदर्शनाचार्य श्रीरङ्गरामानुज प्रणीत श्रुतप्रकाशिका - भावप्रकाशिका - टीकाद्वयोपेतम्, पं. धरणीधर शास्त्रिणा सम्पादितम् श्रीनिवासयन्त्रालय, वृन्दावन, सन् - 1917

श्रीमद्भगवद्गीता

तात्पर्यचन्द्रिकासहितम्, रसास्वादाख्य टिप्पणी सहितं च
रामानुजभाष्यम्, उत्तमूर वीरराघवाचार्य सेनेटरी ट्रस्ट,
नाथमुनि स्ट्रीट, टी. नगर, चेन्नई, सन् 2004

श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीरामानुजभाष्य - हिन्दी व्याख्या सहित,
गीताप्रेस गोरखपुर (वि.सं. 2050

श्रीमद्भागवत महापुराण (भाग- 2)

हिन्दी व्याख्या सहित, गीताप्रेस गोरखपुर, वि.सं. 2045

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण (भाग - 2)

हिन्दी भाषान्तर सहित, गीताप्रेस गोरखपुर, वि.सं. 2045

श्रीरामचरितमानस

गीताप्रेस गोरखपुर, वि.सं. 2047

श्रीवैष्णवमताब्जभास्करः

श्रीरामानन्दाचार्यप्रणीतः,
श्रीरैवासा धाम, सीकर, राजस्थान, वि.सं. 2057

सहस्रगीतिः (तृतीयो भागः)

श्री शठकोपसूरि विरचिता, संस्कृतव्याख्यया हिन्दी व्याख्यया च
समेता, इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ एडवांस स्टडी,
राष्ट्रपति निवास शिमला, सन् 2005

सिद्धित्रयम्

श्रीयामुनमुनिप्रणीतम् तिरुनांगूर श्री अण्णंगराचार्यप्रणीतेन
सिद्धान्तसिद्धाञ्जननामकव्याख्यानेन समन्वितम्,
श्रीकोशलेससदन कटरा अयोध्या, वि.सं. 2036

....

....

....

....
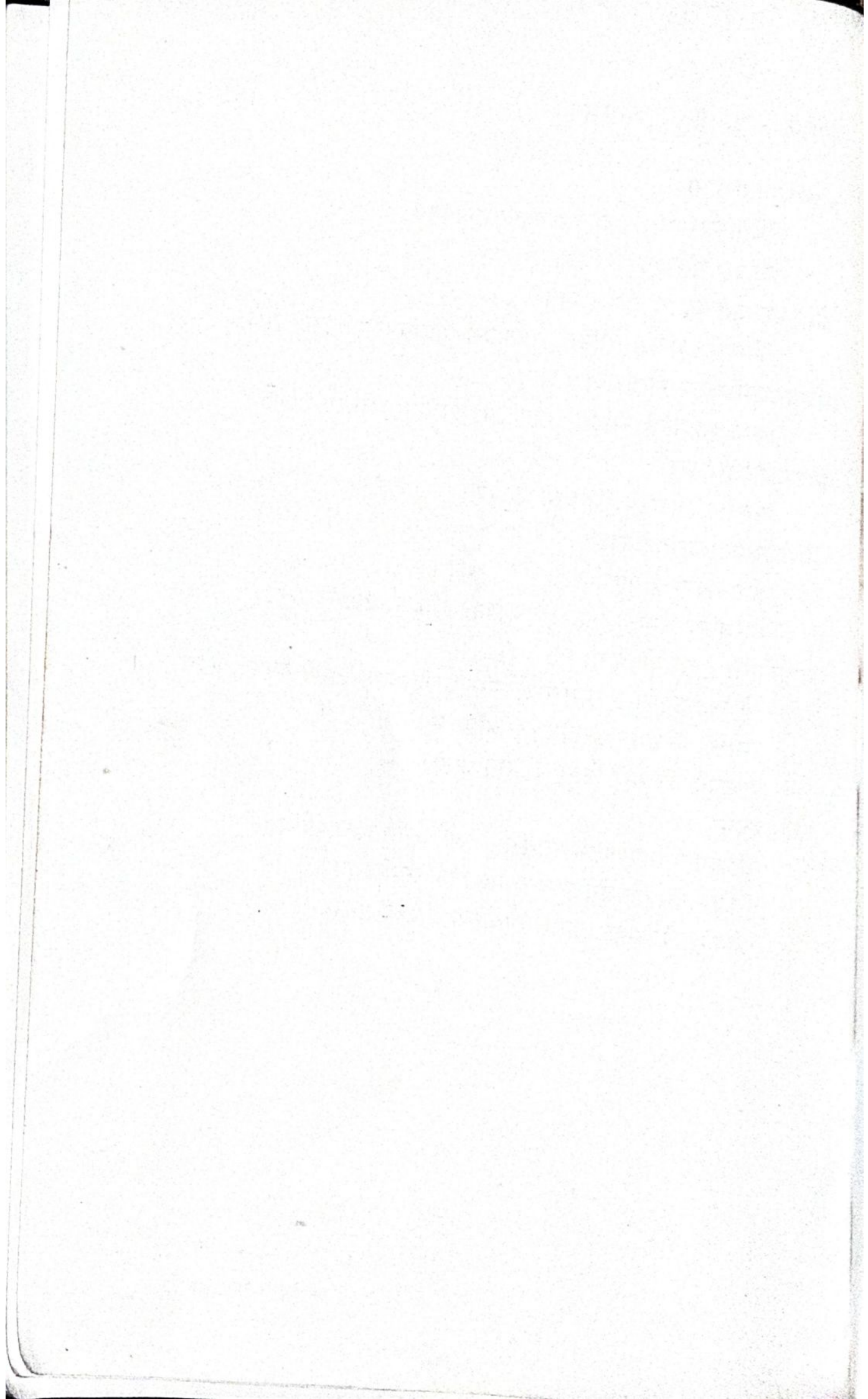
प्रस्तुत ग्रन्थ में मूल पाठ के साथ उसका सरल-सुबोध अर्थ तथा गम्भीर, विस्तृत और हृदयग्राही व्याख्या सुसज्जित है। ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषयों का बोध कराने के लिए समुचित शीर्षकों से अलंकृत किया गया है। इसके अध्ययन से वेदान्त-सिद्धान्त सहज ही हृदयंगम होता चला जाता है। अध्येता महानुभाव इसका स्वयं अनुभव करेंगे। ग्रन्थ के अन्त में आवश्यक परिशिष्ट सन्निविष्ट हैं, जिससे यह ग्रन्थ शोधकर्ताओं के लिए भी संग्राह्य है। विश्वास है कि प्रस्तुत व्याख्या के सहित तत्त्वत्रयम् के अध्ययन से जिज्ञासुओं का विशिष्टाद्वैत वेदान्त सिद्धान्त में सफल प्रवेश होगा।

व्याख्याकार की कृतियाँ

* विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन
* ईशावास्योपनिषत् (तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या)
* [illegible]निषत् (तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या)
* [illegible]षत् (तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या)
* [illegible]षत् (तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या)

प्रकाशनाधीन

* मुण्डकोपनिषत् (तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या)
* माण्डूक्योपनिषत् (तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या)
* तैत्तिरीयोपनिषत् (तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या)
* ऐतरेयोपनिषत् (तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या)
* श्रीमद्भगवद्गीता (हिन्दीव्याख्या)
* अर्थपञ्चक (व्याख्या)

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

दिल्ली